समाज, राज्य और सरकार

ग्यारहवीं कक्षा के लिए पाठ्यपुस्तक

एस. एन. झा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
मई 1989 : ज्येष्ठ 1911
पुनर्मुद्रण
मार्च 1990 : फाल्गुन 1911
नवम्बर 1990 : कार्तिक 1912
मार्च 1992 : फाल्गुन 1913
PD 11T -- NSY

आवरण : शान्तो दत्त एवं सी.पी. टण्डन
सज्जाकार : कर्ण चड्ढा

मूल्य : रु. 8.50

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली- 110016 द्वारा प्रकाशित तथा सुप्रीम आफसैट प्रैस, के -५, मालवीय नगर, नई दिल्ली -110017 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

दस वर्षीय विद्यालयी शिक्षा की अवधि में विद्यार्थियों को नागरिक व राजनैतिक संस्थाओं का तथा भारत और विश्व की समकालीन समस्याओं का अध्ययन करने का अवसर मिलता है। सामान्य शिक्षा के उद्देश्यों के अनुरूप इन दस वर्षों की अवधि में विद्यार्थियों में नागरिक व राजनैतिक प्रक्रियाओं की सही समझ पैदा करने के लिए बल दिया जाता है। सामान्य शिक्षा के इन तत्वों को बनाये रखते हुए +2 स्तर पर वैषयिक दृष्टिकोण को अपनाया गया है। +2 स्तर का एक उद्देश्य विद्यार्थियों को सामाजिक विज्ञान के भिन्न-भिन्न विषयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तैयार करना है। चूंकि इस स्तर पर ये विषय अध्ययन के लिए ऐच्छिक विषय हैं इसलिए ये उचित ही है कि नागरिक शास्त्र के स्थान पर राजनैतिक विज्ञान का अध्ययन किया जाए।

हमारा यह प्रयास रहा है कि पाठ्यक्रम व पाठ्य सामग्री को अधिक से अधिक अर्थपूर्ण और व्यावहारिक बनाया जाए। नये पाठ्यक्रम में अध्ययन को अधिक अर्थपूर्ण बनाने के लिए राजनीति विज्ञान के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक पक्षों को समन्वित करने का प्रयास किया गया है।

'समाज, राज्य और सरकार' +2 स्तर पर राजनीति विज्ञान की पाठ्य पुस्तक माला की पहली कड़ी है। यह पुस्तक नये पाठ्यक्रम पर आधारित है। इस पुस्तक में समाज, राज्य और सरकार के कुछ सैद्धान्तिक पहलुओं की चर्चा भारत के संदर्भ में की गई है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति व कार्यक्रम योजना में दिए गए कुछ केन्द्रिक शिक्षाक्रम के क्षेत्रों का समावेश इस पुस्तक में उपयुक्त रूप से किया गया है। पुस्तक को और अधिक व्यावहारिक बनाने के लिए पाठ्य सामग्री के साथ कुछ प्रयोगात्मक क्रियाओं का सुझाव दिया गया है। साथ ही साथ प्रत्येक अध्याय में चौखटे के भीतर कुछ प्रश्न दिए गए हैं अथवा अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए सुझाव दिए गए हैं। इन प्रश्नों का उद्देश्य पाठ्यसामग्री को बच्चों के व्यावहारिक जीवन के अनुभव और परिस्थितियों से जोड़ना है। इसके अलावा, पुस्तक में शिक्षक और विद्यार्थियों के लिए कुछ अभ्यास के प्रश्न दिए गए हैं। पुस्तक की उपयोगिता को और अधिक बढ़ाने के लिए कठिन शब्दों की सूची दी गई है।

अन्त में कई वर्षों से हमने यह आवश्यकता महसूस की है कि पुस्तक की उपयोगिता के संदर्भ में अध्यापक और छात्रों से व्यवस्थित जानकारी प्राप्त की जाए। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पुस्तक का मूल्यांकन करने के लिए अंतर्निर्मित प्रणाली विकसित की गई है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए पुस्तक के अंत में अध्यापक और छात्र दोनों ही के लिए प्रश्नावली दी गई है। आपके द्वारा सामाजिक विज्ञान और मानविकी सुझाव और टिप्पणियां हमारे लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होंगी।

हम जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के प्रोफेसर एस. एन. झा के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार की। विषय विशेषज्ञों और अनुभवी अध्यापकों द्वारा इस पाण्डुलिपि का पूरी तरह से निरीक्षण किया गया। परिषद इन सभी के योगदान के लिए आभारी है। पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तक निर्माण के लिए पर्याप्त

अनुभव की आवश्यकता होती है। पुस्तक के निर्माण में सुनिश्चित योजना, अनुवेक्षण तथा पर्यवेक्षण अनिवार्य है और अन्त में मुद्रण के समय भी काफी ध्यान देना पड़ता है। इस सब के लिए मैं परिषद के सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के प्रो॰ दि॰ सी॰ मुले, श्रीमती सुप्ता दास, तथा डा॰ श्रीमती मंजु रानी के प्रति कृतज्ञ हूँ। मैं कुमारी शशि अरोड़ा का भी आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के लिए महत्त्वपूर्ण राजनीति विचारकों के रेखा चित्र तैयार किये।

पी. एल. मल्होत्रा
निदेशक

नई दिल्ली

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

विषय सूची

पाठकों के लिए टिप्पणी

इस पुस्तक को पुनर्मुद्रण के लिए भेजने के बाद विश्व तथा भारत में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पुस्तक के वर्तमान संस्करण में इन परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाना संभव नहीं हो पाया है। यूरोप में हुए परिवर्तनों, विशेष रूप से साम्यवादी दलों की सरकारों के पतन के बाद, "समाजवादी सरकार" से संबंधित अध्याय को अब पूर्णतयः नई दृष्टि से देखना आवश्यक है। पुस्तक के विविध अध्यायों में सोवियत संघ का उल्लेख किया गया है, जबकि सोवियत संघ नामक राज्य का अब कोई अस्तित्व नहीं है। भूतपूर्व सोवियत संघ के सभी 15 गणराज्य अब स्वतंत्र, संप्रभु राज्य बन गए हैं। उनमें से 11 गणराज्यों ने मिलकर स्वतंत्र देशों का राष्ट्रमंडल (कॉमनवेल्थ ऑफ इंडिपेन्डेन्ट स्टेट्स) बनाया है।

इस पुस्तक के प्रथम मुद्रण से लेकर अब तक भारत में कई संवैधानिक तथा अन्य राजनैतिक परिवर्तन हुए हैं। उदाहरण के लिए, इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में मात्र 59 संवैधानिक संशोधनों का उल्लेख किया गया है, जबकि वर्तमान संसद के सम्मुख 74वां संवैधानिक संशोधन अधिनियम विचाराधीन है। इस संस्करण में केंद्र और राज्यों के संबंधों के विषय में सरकारिया आयोग की सिफारिशों का भी विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया गया है जो भारतीय संघ व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण हैं।

इस पुस्तक का नया संस्करण आने तक यह आवश्यक है कि पाठकगण समाचार-पत्रों तथा पत्र-पत्रिकाओं एवं अन्य प्रकाशनों की सहायता से संबंधित उपयुक्त जानकारी प्राप्त करते रहें।

अध्याय 1

राजनीति विज्ञान का अर्थ

आधुनिक समाज में जो भी नागरिक दैनिक समाचार पत्र पढ़ता है, वह यह समझता है कि उसे राजनीति का ज्ञान है। उसका यह समझना उचित भी है। लेकिन राजनीति वैज्ञानिक यह सोचते हैं कि राजनीति को समझना और उसका विश्लेषण उनका खास विषय है। आम लोगों की दृष्टि में राजनीति एक "गंदा खेल" या एक "कुटिल प्रथा" से संबद्ध है और हम अक्सर "राजनीति का खेल" या "राजनीति करना" हेय व्यवहार मानते हैं। लेकिन शायद ही कोई ऐसा मानव समूह, संस्था या समाज है जो राजनीति से मुक्त हो। बहुत सी जटिल समस्याओं को राजनीतिक स्तर पर हल करने की बात की जाती है। समाज में विभिन्न प्रकार के विरोधों के राजनीतिक समाधान तलाशे जाते हैं। राजनीतिज्ञों का परिचय अक्सर "सत्ता लोलुप" जैसे अनादर सूचक शब्दों से दिया जाता है। लेकिन उन्हें समाज में जो पद और सुविधा मिलती है उसे पाने के लिए लोग लालायित भी रहते हैं। "राजनीति" शब्द का व्यवहार सामाजिक समूह के लिए किया जाता है जो क्लबों और परिवार जैसे छोटे मानव समूहों से लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ तक व्याप्त है। मानव समाज में यूनानी दार्शनिक प्लेटो से लेकर अब तक के जितने चिंतक आदर्श लोक की कल्पना करते रहे हैं सभी अंत में समाज के राजनीतिक पुनर्गठन की बात किसी न किसी रूप में करते हैं। जब राजनीति शास्त्र की विषय वस्तु को परिभाषित किया जाता है तो इन सभी विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ता है। राजनीति शास्त्र के लिए इन विरोधी शक्तियों की व्याख्या आवश्यक है। राजनीतिक प्रक्रिया के बारे में अलग-अलग समझ इसकी जटिलता और इसके विभिन्न स्तरों के कारण ही हैं। राजनीति की किसी परिभाषा के लिए इन विषयों को समझना आवश्यक है।

मानव समाज और राजनीति

मनुष्य अगर समुदाय में रहते हैं तो यह कोई असाधारण बात नहीं है। मानव समाज के बारे में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसकी कोई न कोई संस्कृति होती है, और इसके उद्देश्य भी होते हैं। मनुष्य केवल जीवन यापन से संतुष्ट नहीं होता। उसका तो यह प्रयास होता है कि वह कुछ अधिक उत्पादन करे जिससे उसके पास भी कुछ रह जाए। मनुष्य ने अपने ऐतिहासिक विकास के क्रम में सदा यह पाया कि उत्पादन गतिविधि का सहकारी संगठन ही विकास का कारण है। चाहे वह शिकार की अवस्था हो या चरवाहा संस्कृति और कृषि समाज, सहकारिता का महत्व हर समय दिखाई देता रहा। जैसे-जैसे उत्पादन पद्धति विकसित होकर आधुनिक औद्योगिक समाज की स्थिति में पहुँची, सहकारिता की महत्ता का ज्ञान बढ़ता गया। मनुष्य और साधनों का यह संगठन प्रायः ऐच्छिक ही होता है। लोग अपनी इच्छा से ही मिलकर काम करते हैं। कभी-कभी इसके लिए बल प्रयोग भी करना पड़ता है, लेकिन मनुष्य का कोई भी समूह केवल शक्ति के आधार पर इकट्ठा नहीं रह सकता।

जब उत्पादन प्रणाली बड़े पैमाने पर संगठित हो तो यह प्रश्न सामने आता ही है कि उत्पादन का बँटवारा कैसे किया जाए। समाज में कुछ ऐसे लोग होते हैं जिन्हें उत्पादन का बड़ा हिस्सा मिलता है और वे संपत्ति उपार्जन कर लेते हैं। इसी

संदर्भ में समानता और न्याय के प्रश्न सामने आते हैं। क्योंकि वितरण पद्धति भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती हैं। इस तरह *स्वार्थ और अभिमत के विरोध उभर कर सामने आते हैं* जो मानव संगठन को प्रभावित करते हैं। बड़े सहकारी समूह प्रायः विभिन्न स्वार्थों के प्रतिनिधि छोटे समूहों में बँट जाते हैं। *संघर्ष का कारण अगर सिर्फ "उत्पादन का बंटवारा" ही होता तो* स्थिति सहज होती। मतभेद संस्कृति के द्वारा निर्धारित ऐसे तत्वों के आधार पर भी उभरते हैं जो सुनिश्चित नहीं हैं। *"क्या अच्छा है और क्या बुरा"* — इन प्रश्नों के उत्तर विभिन्न वर्ग के लोग अपनी .तरह से देते हैं। इस तरह मानव समूहों में सघर्ष का स्वरूप जटिल होता है। लोगों का मिलकर काम करने के लिए जो *साधन,शक्ति और अवपीड़न का प्रयोग* करते हैं वे अनिवार्यतः संघर्ष के मुद्दों में उलझ जाते हैं। यह स्थिति राजनीतिक प्रक्रिया का सार है। इस तरह मानव समाज *में सहयोग और संघर्ष अनिवार्य हैं और यही राजनीति के दो* पक्ष हैं।

मानव विभिन्न उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सामूहिक गतिविधियों में हिस्सा लेता है। इसीलिए ऐसे समूहों के आकार और स्वरूप में भी विभिन्नता होती है। कुछ समूह छोटे होते हैं। कुछ की गतिविधि अन्य की तुलना मे सरल होती है। कुछ ऐसे बड़े मानव समूह भी देखने में आते हैं जिनकी गतिविधियाँ काफी जटिल होती हैं।विभिन्न स्तर पर इस प्रकार के समूह हैं — परिवार, ग्राम सभाएं, श्रमिक संघ, उद्योग, शिक्षा संस्थान तथा राजनीतिक दल। कुछ राजनीतिक चिंतक तो राज्य को भी इसी प्रकार की संस्था मानते हैं जो नागरिकों की स्वेच्छा से बनी हैं। जहाँ एक ओर ये सभी संस्थाएँ सहकारिता के उदाहरण हैं, वहीं इन सभी में संघर्ष भी निहित है। एक ही समूह के लोगों के बीच संघर्ष होता है और विभिन्न समूह आपस में संघर्षशील होते हैं। इसीलिये ऐसे समूह संघर्षों को नियंत्रित करने के लिये नियम, अधिनियम, और कार्यविधि बनाते हैं। सहयोग और संघर्ष का विस्तार और प्रकृति मानव समूह के विभिन्न स्तरों पर अलग-अलग होते हैं। किस प्रकार का और कितनी मात्रा में शक्ति का प्रयोग किया जाए इसका निर्धारण भी तदनुसार ही होता है।

संघर्ष और एकीकरण, राजनीति के दो पहलू

सहयोग और संघर्ष यद्यपि परस्पर विरोधी दिखाई देते हैं तथापि उन्हीं से राजनीतिक प्रक्रिया संगठित होती है। दरअसल, ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सामाजिक संघर्ष का संबंध *सत्ता से है, जो समाज में सुख, सुविधा, सम्मान, प्रतिष्ठा और* लाभ प्रदान करता है। सत्ता के वितरण का एक पक्ष जो सर्वत्र पाया जाता है, वह है उसकी असमानता। कुछ लोगों के पास *सत्ता अधिक होती है, तो कुछ दूसरों के पास कम। इस तथ्य* की व्याख्या विभिन्न तरीकों से की गई है। इनसे समाज में संघर्ष के कारणों का भी पता चलता है। प्रायः सबसे उचित *व्याख्या वह है जो सामाजिक, आर्थिक तत्वों को इसका कारण* मानती है। खास कर मानव समाज में सभी प्रकार के साधनों की हर समय कमी रहती है। प्रतिस्पर्धा और संघर्ष इन्हीं दुर्लभ साधनों की प्राप्ति के लिये होते हैं। *संघर्ष का उभरना अनिवार्य* है लेकिन यह मानव समाज का आदर्श कदापि नहीं है। संघर्ष के सभी प्रकार के विश्लेषण अंत में इसके समाधान के तरीके अवश्य बताते हैं। संगठित समाज का संक्रमण उतना ही *अनिवार्य है जितना संघर्ष का आविर्भाव। समाजिक प्रक्रिया में* कुछ संघर्ष कम हो जाते हैं, कुछ का हल निकल आता है और कुछ बने तो रहते हैं लेकिन नियंत्रित होकर, और स्थितियों के बदलते रहने से कुछ नये संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। एक सद्‌भावपूर्ण समाज के उद्देश्य की पूर्ति में विविध सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं से सहायता तो मिलती है, लेकिन इसमें राज्य और सरकार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

राज्य समाज की सामूहिक सत्ता का भंडार होने के नाते एकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने के लिए कई कदम उठाता है। इसके द्वारा बनाए गए कानून, नियम, और कार्यविधि विरोध की अभिव्यक्ति को नियंत्रित करते हैं। राज्य का अनुमोदन होने से इन नियंत्रणों का पालन भी होता है। राज्य कुछ ऐसे कार्यों की जिम्मेदारी लेता है जिसका फायदा समाज के कुछ *वर्गों तक ही सीमित नहीं रहता।* रेलवे, परिवहन और डाक सेवा ऐसे संगठन हैं जो पूरे समाज के हित की दृष्टि में बनाए जाते हैं। एकीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक की एक मुख्य भूमिका है। समाचार पत्र, रेडियो, और दूरदर्शन जैसे जन माध्यम महत्वपूर्ण हैं। एकीकरण की अवस्था प्राप्त करने के लिए अंतिम लेकिन आवश्यक माध्यम राज्य शक्ति प्रयोग है जो ऐसे लोगों के लिए व्यवहार में लाया जाता है जो सामूहिक प्रक्रिया और लक्ष्य प्राप्ति से अपने को अलग रखते हैं। राज्य पुलिस, सेना, कारागार, और अंत में प्राणदण्ड जैसे चरम तंत्र

का प्रयोग कर सकता है। लेकिन कठोर साधनों का प्रयोग अंतिम रूप में होता है और ऐसा होना भी चाहिए। जो राज्य जनता द्वारा आज्ञापालन बिना बलप्रयोग के प्राप्त कर लेता है उसी को एक स्वस्थ राज्य की संज्ञा दी जाती है। वास्तविक बलप्रयोग के बदले उसकी धमकी ही पर्याप्त होनी चाहिये। फिर राज्य को अपनी जिम्मेदारी निभाने के लिए समय आने पर बलप्रयोग के साधनों का सहारा लेना पड़ता है।

आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के द्वारा सामाजिक संगठनों की प्रकृति का कुछ हद तक रूप बदल गया है। इनके प्रयोग से एकीकरण की प्रक्रिया को बल मिला है। ऐसे सामूहिक संगठनों में बहुत वृद्धि हुई है जिसका संबंध व्यक्ति के जीवन से है। इन विशाल संगठनों द्वारा दी गई सुविधाओं पर समाज निर्भर होता जा रहा है जिससे परस्पर निर्भरता का महत्व अधिक हो गया है। लेकिन यह एक मिश्रित वरदान है क्योंकि साथ ही इससे कुछ नई समस्याएँ और संघर्ष की स्थिति उभर आती है। इसी सिलसिले में राज्य और सामाजिक प्रक्रिया की समस्याओं का सामना करने की क्षमता भी बढ़ जाती है।

राजनीति और राजनीति विज्ञान

राजनीति और राजनीति विज्ञान का प्रयोग अक्सर एक दूसरे के पर्याय के रूप में होता है। लेकिन इनका अर्थ, विषय क्षेत्र और विशिष्टता, दोनों की दृष्टि से भिन्न है। सामाजिक सहयोग, संघर्ष और प्रतिस्पर्धा जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, उन्हीं गतिविधियों को हम "राजनीति" कहते हैं। और राजनीतिक प्रक्रिया के क्रमबद्ध अध्ययन को "राजनीति विज्ञान" की संज्ञा दी जाती है। ये नाम दो विभिन्न पहलुओं की ओर संकेत करते हैं। "राजनीति" अध्ययन के विषयवस्तु और "विज्ञान" अध्ययन करने के प्रामाणिक तरीके से संबंधित है। पहला प्रश्न यह है कि अध्ययन की विषयवस्तु क्या है? और इसी का दूसरा हिस्सा इस प्रश्न से जुड़ा है कि "हम इस विषय वस्तु का अध्ययन किस प्रकार करें?" पहला प्रश्न अध्ययन के क्षेत्र और दूसरा अध्ययन-पद्धति की ओर इशारा करता है। विषय क्षेत्र और अध्ययन-पद्धति ऐसे पहलू हैं जिनको अलग नहीं किया जा सकता।

व्यक्तियों और समूहों में सहयोग और संघर्ष के स्वरूप और उसके तत्व विभिन्न प्रकार के होते हैं। और राजनीति विज्ञान उन्हीं का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान के सामान्य निष्कर्ष इसी पर आधारित होते हैं। फिर इनकी जांच विभिन्न परिस्थितियों में की जाती है। जाँच की विभिन्न अवस्थाओं के बाद ही सिद्धांतों का क्षेत्र व्यापक हो पाता है और विचारों का श्रेष्ठ एकीकरण होता है। राजनीतिक प्रक्रिया में स्थिति और काल के कारण जो विभिन्नता होती है वही राजनीतिक सिद्धांत के आधार होते हैं। *राजनीतिक प्रक्रिया की परिकल्पनाओं और* सिद्धांतों के व्यवस्थित ज्ञान को ही राजनीतिक विज्ञान कहते हैं।

> मनुष्य की कौन सी गतिविधियों को आप "राजनीति" की श्रेणी में रखेंगे। कोई दो उदाहरण दीजिए।

राजनीति विज्ञान का अर्थ और क्षेत्र

राजनीति विज्ञान की व्याख्या कभी भी राज्य के समकालीन स्वरूप के प्रभाव से अलग नहीं रही है। विभिन्न समयों में राज्य और सरकार का क्षेत्र बदलता रहा है और विभिन्न समस्याएँ उनके सामने रही हैं। जहाँ एक ओर राजनीति शास्त्र के दार्शनिक राज्य के समकालीन स्वरूप और समस्याओं के प्रति संवेदनशील रहे हैं, वहीं उन्होंने राज्य की प्रगति और उसके संगठन के बारे में भी दिशा निर्देश किया है। परिभाषाओं पर समकालीन और अन्य सामाजिक-आर्थिक बातों का भी असर रहा है। उत्पादन प्रक्रिया और सामाजिक संस्थाओं के विकास के साथ-साथ राज्य और सरकार की परिकल्पना भी बदली है। अरस्तू की राजनीति की "सर्वव्यापी विज्ञान" की परिकल्पना यूनान के नगर/राज्य (City/State) पोलिस (Polis) के अनुभव पर आधारित थी, जिसका विस्तार व्यक्ति के समस्त सामाजिक क्रियाकलापों तक था। प्लेटो और अरस्तु द्वारा दी गई राजतंत्र की परिभाषा राजनीतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की संस्थाओं को सम्मिलित करती है। उन्होंने राजनीति और समाज में कोई प्रभेद नहीं माना। उत्पादन विधि के विभिन्न चरणों में सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं का महत्व अधिक हो गया। राज्य के लिए अपने कार्यों के विस्तार उन क्षेत्रों तक करना संभव नहीं रहा जो सामाजिक प्रक्रिया में विशेष क्षेत्र के रूप में उभरे थे। इसी वजह से राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं में प्रभेद करना आवश्यक प्रतीत हुआ। राजनीति विज्ञान की परिभाषा "राज्य के विज्ञान" से की गई जिसका बल (emphasis) संस्थाओं की व्यवस्था का अनुरक्षण और बाहरी आक्रमण से सुरक्षा तक

सीमित हो गया। राजनीति विज्ञान का क्षेत्र आर. जी. गेटेल के शब्दों में, "राज्य के बारे में विज्ञान" (Science of the State) निर्धारित किया गया। राज्य के विकास के विभिन्न चरणों का विस्तृत अध्ययन, इसके क्या कार्य हों और कौन से मापदण्ड अपनाने चाहिये जैसे प्रश्नों को राजनीति विज्ञान की विषयवस्तु माना गया। राज्य अपने कार्य सरकार के माध्यम से ही करता है और इसीलिये स्टीफन लीकाक ने कहा कि "राजनीति विज्ञान सरकार के विषय में विचार करता है।" सरकार के विभिन्न रूप क्या हैं? इसके मुख्य कार्य क्या हैं? सामाजिक कल्याण की दृष्टि से सरकार का संगठन कैसा है? राजनीति विज्ञान मुख्य रूप से ऐसे ही प्रश्नों को विचार योग्य मानता था। राज्य और सरकार ही राजनीति शास्त्र की विषयवस्तु मानी गई थी जिसमें संस्था और उनके अधिकार और कार्य के विश्लेषण पर अधिक बल दिया जाता था।

व्यवहारवादी क्रांति ने राजनीति विज्ञान में मात्र "ढांचा" के अध्ययन को "प्रक्रिया" के अध्ययन तक बढ़ाया। इस विचारधारा के कायल लेखक सरकार के औपचारिक ढांचे और उसके कानूनी अधिकार और कर्तव्य के विश्लेषण से संतुष्ट नहीं थे, और उन्होंने संस्थाओं की प्रक्रिया को अधिक महत्व दिया। राजनीति का अर्थ ऐसे लेखक मुख्यतया उसकी प्रक्रिया से समझना चाहते थे। और इसी सिलसिले में उन्होंने "राजनीतिक" और "राजनीतिकेत" क्रियाकलापों में सुस्पष्ट भेद किया। "राजनीतिक" की विशेष परिभाषा संस्था के स्थान पर "क्रिया कलापों" के संदर्भ में की गई। इन लेखकों के अनुसार राजनीति की मूल प्रक्रिया का संबंध समाज में मतभेद, संघर्ष, एवं प्रतिस्पर्धा से है। राजनीतिक प्रक्रिया का सार सत्ता को समझा जाता है। समाज में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो आदेश देते हैं और दूसरे उसको मानते हैं। दूसरों से अपने आदेशों को मनवाना और उसके अनुसार आचरण करवाने की क्षमता ही सत्ता की परिभाषा है। राजनीति का संबंध सत्ता के उपार्जन और उसके व्यवहार से है। कुछ व्यक्ति या समूह अधिक सत्ता किस प्रकार उपार्जित कर लेते हैं? इसके क्या कारण हैं? ऐसे कौन से घटक और तत्व हैं, जो कुछ लोगों को सत्ता उपार्जित करने में सहायता करते हैं? सत्ता का आधार क्या है? सत्ता की प्रकृति क्या है? कुछ दूसरे प्रश्न सत्ता के व्यवहार के बारे में किये जाते हैं। *अर्जित सत्ता का प्रयोग दरअसल कैसे किया* जाता है? ऐसे कौन से तरीके और कौन-सी संस्थाएँ हैं जिनके द्वारा सत्ता को प्रयोग में लाया जाता है? सत्ताधारी का अनुसरण लोग क्यों करते हैं? राजनीति ऐसे ही प्रश्नों के विश्लेषण से संबंध रखती है। मार्क्सवादी भी राजनीतिक प्रक्रिया की मूल सत्ता को मानते हैं। लेकिन उनकी परिकल्पना अर्थमूलक वर्गों के आविर्भाव और वर्गों के असमाधेय टकराव से जुड़ा है। विश्लेषण और परिभाषा के इस लम्बे सफर में राजनीति और राजनीति विज्ञान का जो एक और पक्ष महत्वपूर्ण माना गया है, वह है लोकहित की प्राप्ति, समाज में व्यवस्था रखना, और न्याय की उपलब्धि। न्याय, समानता, और स्वतंत्रता ऐसी परिकल्पनाएँ हैं जो राजनीति विज्ञान में अंतहीन विवेचन के विषय बनी रही हैं। लेखकों ने इनकी कई परिभाषाओं द्वारा इनको समझने का प्रयास किया है और इनकी प्राप्ति के लिये कई तरीके सुझाए हैं। इसमें कोई दो मत नहीं कि ये मानव समाज के न्यायसंगत आदर्श हैं।

हम इन परिभाषाओं पर विस्तार से विचार करें। राजनीति विज्ञान की एक स्पष्ट और मानी हुई परिभाषा यह है कि इस *विषय का संबंध "राज्य और सरकार की सामान्य समस्या" से है* (आर. एन. गिलक्राइस्ट)। सरकार के अंग अधिक प्रत्यक्ष और दृश्य होते हैं। इसीलिये अक्सर राज्य और सरकार को अभिन्न समझ लिया जाता है। लेकिन लेखक इन दोनों में भेद करते हैं। सरकार के विभिन्न अंगों और संस्थाओं में राजनीति वैज्ञानिक की मुख्य दिलचस्पी रही है। *नियम, विनियम, और कानून* बनाना और उन्हें समाज में लागू करना, शासन के काम में सम्मिलित हैं। इनमें कोई भी काम पूर्णतया ऐच्छिक नहीं है। इसीलिए इन्हें लागू करने के लिए सरकार को सत्ता का प्रयोग करना पड़ता है। किस संस्था के पास कौन-सी और कितनी सत्ता हो, यह सांविधानिक विशेषज्ञों के विचार का मुख्य विषय रहा है। सरकार के तीन सुप्रसिद्ध अंग, विधायिका, कार्यपालिका, और न्यायपालिका, अलग-अलग कार्य के लिए उत्तरदायी हैं और उसके लिए जो सत्ता आवश्यक है वह उन्हें दी जाती है। लेकिन समाज में सिर्फ सरकार ही ऐसी संस्था नहीं है, जो नियम और विनियम बनाती है और जिन्हें लोग मानते भी हैं। यह विदित है कि सामाजिक प्रथा और परंपरा भी कानून के स्रोत होते हैं। क्लब जैसे ऐच्छिक समूह भी अपने लिए नियम और विनियम बनाते हैं। लेकिन इनकी बाध्यता वैसी नहीं होती जो सरकार द्वारा बनाए गए कानूनों, नियमों और विनियमों की होती है, जो *विधिसम्मत* होते हैं। *लेकिन विधिसम्मत सरकार* की बात करना एक स्पष्ट बात की ही अभिव्यक्ति है। सरकार की परिभाषा वैधता से ही पूरी होती है।

राज्य का क्षेत्र सरकार से व्यापक है। दरअसल राज्य की अभिव्यक्ति सरकार द्वारा होती है। एक सुप्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार राज्य की पहचान संप्रभुता का उन लोगों पर व्यावहार से होती है जो एक भूभाग में रहते हैं। इन तीन लक्षणों में संप्रभुता सबसे महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। अगर हम इसके मूल तत्व को समझने की कोशिश करें तो संप्रभुता का अर्थ वह सर्वोच्च सत्ता है, जिसका अनुसरण करवाने के लिए सरकारी तंत्र का व्यवहार होता है। मार्क्सवादी सिद्धांत से राज्य का स्पष्टीकरण और व्याख्या बहुत हद तक समृद्ध हुई है। यह विश्लेषण सामाजिक एवं राजनीतिक प्रक्रिया के आर्थिक आधार का कायल है और राज्य की प्रकृति की व्याख्या इस बात से करता है कि आखिर किस वर्ग हित की स्वार्थसिद्धि होती है। राज्य की अवधारणा शासक वर्ग के उपकरण के रूप में की जाती है।

समाज में सत्ता के केन्द्र के रूप में राज्य की अवधारणा सर्वमान्य है, लेकिन इससे कुछ नये विद्वान संतुष्ट नहीं हैं। इस संदर्भ में कई कठिनाइयाँ बताई जाती हैं। कुछ ऐसे समाज भी हैं जिनमें राज्य के लक्षण हैं और उसके कार्य भी संपादित होते हैं (जैसे, एक भूभाग, सामाजिक व्यवस्था, वैधानिकस्तता, और बल प्रयोग) लेकिन राज्य सही अर्थों में नहीं पाया जाता। ई. ई. इवान्सप्रिचार्ड और मायर फोरटेस जैसे सामाजिक मानव वैज्ञानिकों ने कुछ जनजातीय समाजों का अध्ययन किया है जिन्हें वे "राज्य रहित समाज" की संज्ञा देते हैं। साथ ही, राज्य के अलावा कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं जिनके लक्षण राज्य से मिलते-जुलते हैं। हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि शिक्षा संस्था, व्यापार और धार्मिक संगठन के पास भी कुछ मात्रा में निग्रह बल सत्ता होती है। संप्रभुता, यानी सर्वोच्च सत्ता, राज्य का सबसे विशिष्ट लक्षण है और इसलिए राजनीतिक प्रक्रिया के विश्लेषण में इस लक्षण को मुख्य मानना श्रेयस्कर होगा।

कुछ प्रभावशाली लेखक सत्ता को राजनीति विज्ञान की सबसे महत्वपूर्ण संकल्पना मानते हैं। इनके अनुसार जहाँ भी सत्तामूलक संबंध और संघर्ष की स्थिति है, वहीं राजनीति उपस्थित है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक बार फिर बल संस्था के विश्लेषण पर नहीं, पर इस बात पर है कि क्रिया कलाप और व्यवहार का स्वरूप क्या है। हेराल्ड डी. लासवेल के द्वारा दी गई परिभाषा "राजनीति–किसको, कब और कैसे प्राप्त होती है" इस दृष्टिकोण का अच्छा उदाहरण है। सत्ता की परिभाषा दूसरों के व्यवहार को नियंत्रित करने की क्षमता है, चाहे वह बलप्रयोग के व्यवहार या उसकी धमकी मात्र से हो जाए। लेकिन राजनीतिक व्यवस्था मात्र बलप्रयोग के आधार पर टिकी नहीं रह सकती। यहाँ विद्वान टी. एच. ग्रीन के चिरसम्मत कथन से सहमत हैं कि "मात्र बलप्रयोग नहीं, सम्मति राज्य का आधार है।"

इस संदर्भ में जो एक नया शब्द प्रवर्तित हुआ है वह है विधिसंगत, जिसका अर्थ है ऐच्छिक आज्ञापालन। राज्य के पास सत्ता होती है, और बल प्रयोग की क्षमता भी है जिसका प्रयोग लोगों से आज्ञापालन करवाने के लिये किया जा सकता है। अगर वास्तविक बलप्रयोग नहीं भी होता तो इसकी संभावना तो बनी ही रहती है। लेकिन बहुत से लोगों के अधिक व्यवहार को नियंत्रित करने के लिये सत्ता का बार-बार प्रयोग राज्य के लिए महंगा साबित होता है। नागरिकों को मात्र सत्ता के आधार पर नियंत्रित करना न तो संभव है न ही उपयुक्त। इसीलिये राज्य सत्ता को सिर्फ अंतिम अस्त्र के रूप में लेता है, जिसका व्यवहार उनके लिये होता है जिन्हें कानून मान्य नहीं होता। यह श्रेयस्कर समझा जाता है कि लोग इस विश्वास पर राज्य का आज्ञापालन करें कि शासन समुचित और लोगों के लिए लाभकारी है और सरकार सर्वमान्य प्रक्रिया के आधार पर ही सत्ता में आई है। दूसरे शब्दों में राज्य और सरकार को शासन का अधिकार प्राप्त है और इसलिए लोगों को इसका आज्ञापालन करना चाहिये। इसी आम विश्वास को "विधिसंगत" की संज्ञा दी गई है। इस वैधता की प्राप्ति की प्रक्रिया का प्रथम क्रमबद्ध सिद्धांत मेक्सवेबर द्वारा दिया गया।

इस प्रकार राजनीति विज्ञान का अर्थ और क्षेत्र उत्तरोत्तर व्यापक होता गया है। राजनीति के मूल तत्व की विवेचना करने के सिलसिले में उपयोगी संकल्पनाएँ प्रवर्तित हुई हैं। विभिन्न दृष्टिकोणों को हमें एक दूसरे के विकल्प के रूप में नहीं लेना चाहिए। इन सभी के द्वारा राजनीति विज्ञान ने समृद्धि को संचित किया है। राज्य और सरकार को समझने और उसकी परिभाषा करने के सिलसिले में विद्वानों के लिए जो एक स्थायी प्रकरण रहा है वह है एक विशिष्ट राज्य की परिकल्पना। प्लेटो के "आदर्श राज्य" और अरस्तू के "मिश्रित संविधान" से आरंभ होकर रूसो, मार्क्स, और महात्मा गांधी जैसे राजनीतिक चिंतक एक "अच्छा" और "इच्छित" मानव जीवन के बारे में सोचते रहे हैं। राज्य और सरकार इसको किस प्रकार सुनिश्चित कर सकते हैं, यह भी इन विचारकों के लिए एक महत्वपूर्ण विषय

रहा है। यह राजनीति विज्ञान में विचार का एक सशक्त पक्ष रहा है।

राजनीतिक विज्ञान के मानकीय एवं आनुभविक दृष्टिकोण

राजनीति विज्ञान का संबंध दो प्रश्न श्रृंखला से है। पहला तो राज्य और सरकार की संस्था और प्रक्रिया के विषय में है। उनका प्रादुर्भाव कैसे हुआ? ये किस प्रकार संगठित हैं? इनमें अधिकार एवं कार्य का वितरण कैसा है? किसके पास कितना अधिकार है? सत्ता का प्रयोग कौन किसके ऊपर करता है? और दूसरे प्रकार के प्रश्न लोकहित और भलाई के विषय में होते हैं जिसकी प्राप्ति के लिए राज्य और सरकार अन्ततोगत्वा सत्ता का प्रयोग करते हैं। सत्ता का प्रयोग किस प्रकार होना चाहिए? संस्थाओं का संगठन कैसा हो कि सत्ता के प्रयोग पर आवश्यक नियंत्रण रह पाये? किन नियंत्रणों की आवश्यकता है? कौन से कार्य लोकहित और भलाई के लिये हैं? इन ध्येयों की पूर्ति कैसे की जाए? पहले प्रकार के प्रश्न सत्ता के प्रयोग के विषय में हैं और दूसरे इस प्रयोग के ध्येय की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। पहले प्रकार का संबंध "राजनीति कैसी होनी चाहिये" इससे है। पहले प्रकार के प्रश्न "राजनीति के साधन" से संबंध रखते है और दूसरे " राजनीति के साध्य" को महत्व देते हैं।

राजनीति विज्ञान की प्रकृति ही ऐसी है कि वह किसी भी एक दृष्टिकोण को अपना कर दूसरे को अस्वीकार नहीं कर सकता। इसका संबंध दोनों ही प्रकार के प्रश्नों से है — इसका स्वरूप "क्या है" और "क्या होना चाहिये"। राजनीति ऐसे विषय से सम्बन्ध रखती है जिसे हर समाज के विभिन्न समूह या व्यक्ति कार्यान्वित करते हैं। इसका अध्ययन किसी स्थान या किसी समय विशेष में राजनीति की उपेक्षा नहीं कर सकता या उसके विश्लेषण से नहीं कतरा सकता। इस प्रक्रिया की वास्तविकता को समझने के लिये तथ्य-संग्रह और उनका विश्लेषण आवश्यक है। वास्तविक प्रक्रिया के इसी विश्लेषण के आधार पर व्यापक सामान्यीकरण किए जाते हैं। विश्लेषण की इसी पद्धति को आनुभविक दृष्टिकोण कहते हैं। तथ्यों पर आधारित ये विश्लेषण नये तथ्यों के संदर्भ में परीक्षण के लिये रखे जाते हैं और उसके उपरान्त व्यापक निष्कर्ष का प्रतिपादन होता है। इस पूरी प्रक्रिया से ऐसे आचरण या ऐसी संस्था को बिल्कुल अलग नहीं रखा जा सकता जो समाज (या व्यक्ति) के मानदण्ड के अनुसार है और उनकी अभिरुचि के अनुरूप है। लेकिन ये मानदण्ड या अभिरुचियां विभिन्न समाज या व्यक्ति के लिए अलग-अलग होती हैं। इनका अर्थ ऐसी मान्यता, आचरण, संस्था, या संकल्पना से है जिसको अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। इस वरीयता के प्रश्न पर व्यक्तियों, विद्वानों और विभिन्न समाजों का सहमत होना आवश्यक नहीं — ये अलग-अलग हो सकते हैं। ऐसी अभिरुचि की कोई भी श्रृंखला मान्य हो सकती है या अस्वीकार की जा सकती है। इसको मानकीय दृष्टिकोण की संज्ञा दी जाती है। दोनों दृष्टिकोणों में यह भेद उपयोगी तो है लेकिन यह मानना होगा कि दोनों पूर्ण रूप से पृथक नहीं हैं और किसी एक पर बल देना या दूसरे पर, यह सापेक्ष है। मानकीय वक्तव्य यों ही नहीं दिये जाते हैं, आखिर इनका समर्थन कुछ तथ्यों या तर्कों के आधार पर किया जाता है। इसलिए अगर हम ऐसे किसी वक्तव्य पर प्रश्न चिन्ह लगाना चाहते हैं तो हमें विपक्ष में दूसरे तथ्य या तर्क प्रस्तुत करने पड़ेंगे।

राजनीति विज्ञान में दोनों ही दृष्टिकोण की उत्कृष्ट परंपराएं पाई जाती हैं। अरस्तू की पुस्तक "राजनीति" में जो राजनीतिक परिवर्तन एवं क्रांति की व्याख्या और "मिश्रित संविधान" की अवधारणा है, वह विभिन्न प्रकार के संविधानों के वर्णन और तुलना पर आधारित है। दूसरी तरफ, प्लेटो के आदर्श राज्य की अवधारणा, रूसो द्वारा प्रस्तुत समुदाय की अनुभूति का पुनः स्थापन का सुझाव और मानव की नैतिक एवं भावात्मक आवश्यकता, जरमी वेनथम के राजनीतिक कार्य पर आधारित प्रसन्नता — ये सभी मानकीय विचार के उदाहरण हैं। कार्ल मार्क्स का विशाल विश्लेषण, जो राजनैतिक और शास्त्रीय दोनों दृष्टि से प्रभावशाली रहा है, इन दोनों दृष्टिकोणों के संयोग का बहुत अच्छा उदाहरण है।

कभी-कभी राजनीति दर्शन और राजनीति विज्ञान में भेद इस आधार पर किया जाता है कि ये क्रमशः मानकीय और आनुभविक दृष्टिकोण के द्योतक हैं। लेकिन कुछ विद्वान मानकीय और विश्लेषणात्मक दर्शन में भी अंतर करते हैं। विश्लेषणात्मक प्रस्ताव सभी दार्शनिक विचारविमर्श का आवश्यक अंग है।

अभी कुछ समय से राजनीति विज्ञान के "विज्ञान" शब्द पर अधिक बल दिया जाने लगा है, जिसमें आनुभविक पक्ष

को मानकीय से अलग करने का प्रयास किया गया है। यह सुझाव बहुत उत्साह से दिया जाता है कि राजनीति के अध्ययन में अगर वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाये तो "राजनीति का विज्ञान" संभव है। यह एक सामान्य उक्ति के रूप में नहीं दिया जाता है : वैज्ञानिक पद्धति को एक विशेष और क्रमबद्ध पद्धति के रूप में समझा जाता है।

वैज्ञानिक पद्धति और राजनीति विज्ञान

आधुनिक युग विज्ञान और प्रोद्योगिकी को बहुत महत्व देता है। लेकिन ऐसे युग में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ही राजनीतिशास्त्र एक विज्ञान होने का दावा नहीं करता। इस प्रणाली-विज्ञान को अपनाने से निश्चित फायदे हैं। विज्ञान का संबंध एक ज्ञान समुदाय और उसे प्राप्त करने के लिए एक सर्वसम्मत प्रणाली, दोनों से है। ज्ञान की विषय-वस्तु तो विषय के अनुसार विभिन्न होती हैं लेकिन वैज्ञानिक पद्धति के स्वरूप के बारे में अब एक आम सहमति है। एक वैज्ञानिक ज्ञान का सर्जन किस प्रकार करे कि उस काम को वैज्ञानिक मान्यता मिले? ज्ञान के सृजन और प्रजनन की प्रक्रिया को प्रणाली (Method) की संज्ञा दी जाती है।

वैज्ञानिक कार्य की मूल मान्यता यह रही है कि संसार में कोई भी घटना यों ही नहीं घट जाती, वरन् उनका एक सुसंगत समुच्चय है। उनमें कार्यकारण संबंध होता है, जिसकी पुनरावृत्ति होती है। विज्ञान का कार्य पुनरावृत्ति की रचना को स्थापित करना और कार्यकारण संबंध का पता करना है। इस प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक तथ्यों का अनुभव करे। घटनाओं का अवलोकन और उनका परीक्षण आवश्यक है। तथ्यों को तभी प्रमाणिक ठहराया जा सकता है जब वे आनुभविक हों। अवलोकन की प्रक्रिया में वैज्ञानिक के लिये उचित है कि वह अपने पूर्वाग्रह को उससे अलग रक्खे। उसके लिए विषयपरक होना आवश्यक है। वस्तुओं का वास्तविक वर्णन होना चाहिए। विज्ञान के आनुभविक आधार का ही विषय यहाँ फिर आता है। इस तरह की व्याख्या के आधार पर वैज्ञानिक इस बात की भविष्यवाणी भी कर सकता है कि भविष्य में तथ्य आपस में किस प्रकार संबद्ध होंगे। ऐसी भविष्यवाणी का आधार भी आनुभविक है। अध्ययन की यह पद्धति कभी भी यह दावा नहीं करती कि वैज्ञानिक निष्कर्ष सत्य को उद्घाटित करता है। निष्कर्ष ज्यादा से ज्यादा प्राक्कथन के रूप में होता है, जिसके परीक्षण सतत् नए तथ्यों के परिपेक्ष्य में होते रहते हैं। आज जो निष्कर्ष संस्थापित हो चुका है, उसमें बाद में नये तथ्य और व्याख्या के प्रकाश में संशोधन हो सकता है। इसका सबसे अच्छा दृष्टांत है गैलेलियो, न्यूटन, और आइन्सटाईन द्वारा किए गए ब्रह्माण्ड की परिकल्पना। वैज्ञानिक पद्धति किसी भी निर्णय को अप्रतिबद्ध ज्ञान के रूप में नहीं मानती।

विज्ञान की उपधारणाएं जो पहले बताई गई हैं, उनका उपयोग प्रकृति विज्ञान में अधिक अंश में होता है। सामाजिक तथ्यों के लिए इनका उपयोग किस हद तक किया जा सकता है, इस प्रश्न पर समाज वैज्ञानिकों में मतभेद है। एक मत यह है कि समाज विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग न तो संभव है, न ही उचित। कुछ विद्वानों का समाज विज्ञान के मानवीय प्रकृति के बारे में दृढ़ विचार है और वे मानव समाज का विश्लेषण वस्तुपरक (निष्पक्ष) दृष्टि से नहीं, लेकिन सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से करने का विचार देते हैं। कुछ दूसरे विद्वानों के मत में विज्ञान के उपरोक्त पूर्वधारणा समाज विज्ञान के लिए उपयुक्त नहीं हैं। कार्यकारण संबंध की प्रकृति के बारे में भी विवाद है, जिसका आरम्भ प्रसिद्ध दार्शनिक डेविड ह्यूम ने किया था। आनुभविक तथ्यों पर जो बल दिया गया है, उसके विषय में भी कठिनाइयाँ बताई जाती हैं, क्योंकि कुछ विद्वान सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र को सिर्फ अवलोकन योग्य तथ्यों तक ही सीमित नहीं करना चाहते। कुछ ऐसे तथ्य हो सकते हैं जिनका अवलोकन उपलब्ध साधनों से संभव नहीं है। वैज्ञानिक की वस्तुपरकता के बारे में भी विवाद है। यह कहा जाता है कि जब अध्ययन करने वाले (समाज वैज्ञानिक) और अध्ययन के विषय वस्तु (मानव समाज में व्यक्ति) दोनों ही मानव समाज के अंग हैं, तो विषयपरकता कहाँ तक सम्भव है?

अब राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग पर विचार करें। यह कहा जाता है कि राजनीति तथ्य अत्यंत जटिल होते हैं और इसकी रचना या नियमितता का पता करना कठिन है। यहाँ जटिलता का अर्थ यह है कि राजनीतिक प्रक्रिया के बहुत से कारक होते हैं और बहुत सी शक्तियाँ इस पर अपना असर डालती हैं। जटिलता की वजह से जो कठिनाई बताई जाती है वह किसी तर्क पर आधारित नहीं है। यह प्रधानतः एक आनुभविक प्रश्न है जिसका अर्थ यह है कि राजनीति के अध्ययन में बहुत सारे तथ्यों को ध्यान में रखना पड़ता है।

जटिलता का प्रश्न इस संदर्भ में संगत है कि राजनीति विज्ञान में विविध महत्त्वपूर्ण कारकों को ध्यान में रखकर ही इसका व्यापक विश्लेषण हो सकता है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो आसानी से माना जा सकता है। वस्तुत : आधुनिक शोध प्रणाली गणित और सांख्यिकी जैसी प्रणालियों का व्यापक उपयोग करती है। इस तरह के शोध में कम्प्यूटर जैसे अति आधुनिक साधन भी व्यवहार में आते हैं। इन सभी कारणों से एक शोधकर्ता के लिए राजनीति तथ्य की जटिलता पर अधिकार अधिक संभव हो गया है। दूसरी कठिनाई यह बताई जाती है कि मानव मात्र का अध्ययन कठिन है क्योंकि मनुष्य किसी निर्धारित रूप में व्यवहार नहीं करता। मनुष्य के व्यवहार के विषय में भविष्यवाणी बहुत कठिन है। यह कहा जाता है कि मानव व्यवहार पर विविध तथ्यों का असर होता है, लेकिन कोई भी निर्णय लेने के वास्तविक समय में उनकी इच्छा स्वतंत्रता महत्त्वपूर्ण होती है। इसलिए मानव व्यवहार के विषय में कार्यकरण संबंध स्थापित करना आसान नहीं है। यहाँ इच्छा की स्वतंत्रता का तर्क कुछ अतिशयोक्ति मालूम पड़ता है। इसमें दो मत नहीं कि मनुष्य का व्यवहार कभी-कभी ऐसा होता है, जिसके बारे में भविष्यवाणी कठिन है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि ये कार्य ऐसे हैं जिनपर किन्हीं तथ्यों और शक्तियों का असर ही नहीं होता। अकारण कार्य अनिश्चित' तो होता ही है। लेकिन अनिश्चित व्यवहार के भी कुछ अत्यन्त व्यक्तिगत कारण हो सकते हैं। मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषक यह मानते हैं कि मानव के स्पष्टतः अनिश्चित व्यवहार का भी कारण होता है। जान हास्पर्स का कहना है कि "स्वतंत्रता बाध्यता की विपरीत है, कार्यकारण संबंध का नहीं"। आवश्यकता इस बात की है कि राजनीति अध्ययन को दूसरे मानव विज्ञानों की सूक्ष्मदृष्टि की सहायता से व्यापक बनाया जाए। उद्देश्य तो यह है कि मानव समाज और व्यवहार के अध्ययन को सम्पूर्ण बनाया जाए। तीसरी कठिनता, जिसका जिक्र अक्सर होता है, वह यह सुझाव है कि वैज्ञानिक अध्ययन मूल्य मुक्त होना चाहिए। राजनीति विज्ञान लोक नीति के प्रश्नों पर विचार करता है और इसलिए यह सम्भव नहीं कि उद्देश्य और साधन जैसे विषयों को छोड़ दिया जाए। वैज्ञानिक पद्धति साधन की चर्चा तो सहन करती है, लेकिन साध्य की बात होते ही मान्यता (मूल्य) का प्रश्न सामने आता है। ये मूल्य कई प्रकार के हो सकते हैं : व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक, सैद्धांतिक आदि। इस विषय में कई दृष्टिकोण हैं। दरअसल, वैज्ञानिक पद्धति की मदद से तथ्य और मूल्य को अलग करना आसान है। जब वैज्ञानिक पद्धति में मूल्य-मुक्त अध्ययन की बात की जाती है, तो इसी भेद की ओर ही इशारा होता है। कठिनाई तो उस वक्त होती है जब तथ्य और मूल्य जानबूझ कर या अनजाने में, मिल-जुल जाते हैं। एक स्पष्ट मूल्य के स्वरूप के अंतर्गत एक वैज्ञानिक अध्ययन संभव है। यह भी कहा जाता है कि राजनीतिक अन्वेषण इतना सूक्ष्म और शुद्ध हो ही नहीं सकता जिसके आधार पर घटनाओं की भविष्यवाणी की जा सके। दूसरे सामाजिक विज्ञान के साथ राजनीति विज्ञान भी वर्णन तो बखूबी कर सकता है, लेकिन भविष्यवाणी के प्रसंग में यह विषय कुछ कमज़ोर है।

राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति के उपयोग में जो कठिनाई बताई गई है उनमें से कुछ संगत है। लेकिन क्रमबद्ध पद्धति की चेतना से राजनीति विज्ञान निश्चय ही समृद्ध हुआ है। यह तो स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान उस अर्थ में विज्ञान नहीं है जिसमें प्रकृति विज्ञान और जो विद्वान वैज्ञानिक पद्धति के वास्तविक लाभ की चर्चा करते हैं उनका यह प्रस्ताव भी नहीं है। वैज्ञानिक पद्धति के विषय में चेतना का अर्थ ही यही है कि इस बात का पूरा ज्ञान हो कि स्थानों पर इनका उपयोग हो सकता है और कहाँ वैकल्पिक पद्धति अधिक उपयोगी होंगी। किसी भी अध्ययन के लिये शोध का विवेकपूर्ण चुनाव वैज्ञानिक प्राणाली का एक हिस्सा है।

राजनीतिशास्त्र और अन्य मानव एवं सामाजिक विज्ञानों का संबंध

राजनीति विज्ञान राज्य और सरकार जैसे अधिशासन की संस्थाओं और प्रक्रियाओं का अध्ययन है। इस अध्ययन में अन्य प्रक्रियाएं भी शामिल की जाती हैं, जैसे संघर्ष, सहकारिता, एकीकरण और समाज में सत्ता मूलक संबंधों का पारस्परिक प्रभाव। आधुनिक समय में राजनीति विज्ञान की यह परिभाषा अधिक व्यापक मानी जाती है। इस विषय की व्यापक व्याख्या राजनीति को कुछ संस्थाओं के विश्लेषण तक सीमित नहीं रखना चाहती। वस्तुतः समाज के सभी क्रियाकलापों का एक क्षेत्र ऐसा होता है जिसका संबंध विरोध और सत्ता के लिए संघर्ष से होता है। इस तरह "धर्म की राजनीति", "क्लब की राजनीति", "खेलकूद की राजनीति", "पारिवारिक राजनीति" खासकर संयुक्तपरिवार

में, ऐसे शब्द सुनने में आते हैं। अरस्तु ने जब राजनीति को "सर्वव्यापी विज्ञान" की संज्ञा दी, तब उसका अर्थ सिर्फ राजनीतिक अधिशासन के व्यापक फैलाव से नही था। उसका इशारा इसके सर्वव्यापी स्वरूप की ओर भी था। सामाजिक अध्ययन का केंन्द्रबिंदु कुछ भी हो, राजनीति का अध्ययन उसका एक आवश्यक अंग है। अन्य सामाजिक विज्ञानों की सूक्ष्मदृष्टि के उपयोग से राजनीति विज्ञान लाभान्वित होता है। इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, और नीतिशास्त्र जैसे विषयों का राजनीति विज्ञान से निकट का संबंध है।

इतिहास से संबंध : इतिहास का क्षेत्र राजनीति विज्ञान से अधिक विस्तृत है, क्योंकि इसमें सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, और राजनैतिक, सभी प्रकार की घटनाएं सम्मिलित की जाती हैं। इतिहास का संबंध "अतीत के अध्ययन" से भी है। इतिहासकार समसामयिक समस्याओं का भी अध्ययन करते हैं, लेकिन उनकी व्याख्या में कारणों को अतीत में हुई घटनाओं में ढूँढा जाता है। ऐतिहासिक अध्ययन में घटनाओं का वर्णन कुशलता से किया जाता है। जिसके लिए विश्लेषण के अपने खास तरीकों का प्रयोग होता है। विश्लेषण के बगैर कोई भी वर्णन सभंव नही। विश्लेषण और वर्णन का भेद उनकी मात्रा के आधार पर होता है। राजनीति वैज्ञानिक, ऐतिहासिक विश्लेषण से ही उन सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का सिंहावलोकन करते हैं जिसमें कुछ खास संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। कोई भी ऐसी संस्थाओं के विकास का पूर्ण अवलोकन तभी हो सकता है जब उनका अध्ययन कुछ लम्बे समय तक किया जाए। इतिहासकार हमें उन विभिन्न स्थितियों के बारे में बताते हैं जिनमे कुछ खास "वस्तु", "घटना", "परस्पर संबंध", और संस्था उभर कर आए। उनके असर का भी विश्लेषण किया जाता है। इतिहास प्रयोगशाला जैसे स्थितियों से भरा पड़ा है जिससे हमें सामाजिक संबंध के कार्यकारण भाव का पता चलता है। किसी विद्वान ने कहा है, "इतिहास की संभावनाओं और संभावना के इतिहास का अध्ययन ही राजनीति की विषय वस्तु है।"

अर्थशास्त्र से संबंध : सामान्य रूप से अर्थशास्त्र का संबंध समाज में धन के उत्पादन और वितरण से है। व्यक्ति और समाज दोनों के लिए भौतिक साधन आवश्यक होते हैं। आर्थिक संबंध और संस्थाएं राजनीतिक प्रक्रिया पर अपना प्रत्यक्ष असर डालती हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत राज्य और सरकार के संगठन के लिए आर्थिक कारणों को महत्वपूर्ण समझता है। उनकी दलील विश्वादोत्पादक है। राजनीतिक संस्थाएं आर्थिक कारणों को ही प्रतिबिंबित करते हैं। आर्थिक पक्ष राजनीतिक संगठन का एक मूल कार्य इसलिए भी होता है कि आर्थिक विकास सामाजिक कल्याण के लिये आवश्यक है। समाज के संचालन के लिए जिम्मेदार किसी भी संस्था के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि आर्थिक गतिविधियों की ओर खास ध्यान दे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं आधुनिक सरकार, चाहे वह समाजवादी हो या पूंजीवादी, आर्थिक योजना को अपना एक बुनियादी कर्तव्य मानती हैं। आर्थिक क्रियाकलाप इतने महत्वपूर्ण हैं कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए उनकी उपेक्षा संभव नहीं। दरअसल में सरकार अर्थव्यवस्था पर उतना नियंत्रण चाहती है जितना संभव हो। इन सब कारणों से एक राजनीति वैज्ञानिक समाज में आर्थिक शक्तियों के पारस्परिक क्षेत्र के बाहर नहीं छोड़ सकता। एक अर्थशास्त्री के लिए भी राजनीति की प्रकृति और व्यवस्था को ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है। अर्थव्यवस्था संबंधी बहुत से निर्णय वास्तव में राजनीतिक निर्णय होते हैं। अर्थशास्त्रियों के विश्लेषण की प्रक्रिया के लिए सूक्ष्म शब्दावली और अधिक परिशुद्ध मानदण्ड उपलब्ध हैं। इस विषय के विकास से यह संभव हो सका है कि इसके निष्कर्ष और सुझाव कार्य रूप में परिणत किए जाएँ और इनके मुख्य आशय का प्रभाव सरकार के लोक निर्णय की प्रक्रिया पर हो।

समाजशास्त्र से संबंध: समाज के विभिन्न स्तरों के क्रियाकलाप *समाजशास्त्र* के विषय वस्तु हैं। *संस्थाओं के पारस्परिक संबंध* का अध्ययन किया जाता है और ये संबंध विभिन्न प्रकार के समाज में किस प्रकार के हैं, इनका अध्ययन भी किया जाता है। समाजशास्त्री समाज के आंतरिक संगठन का अध्ययन करते है। विभिन्न समाजों में ये संगठन किस प्रकार के हैं, इसकी तुलना भी की जाती है। संस्थाओं का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाता है कि वे क्या कार्य करते हैं और कौन से कार्य उन्हें करने चाहिए। कार्यों को फिर विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंधों में बाँट कर देखा जाता है। उदाहरण के लिए, परिवार विभिन्न प्रकार के संबंध को मिलाकर बनता है, जैसे, पुरुष-स्त्री, माता-पिता और बच्चे, भाई-बहन, दादा-दादी, नाती-पोते के संबंध,आदि। कुछ समाजशास्त्री इन संबंधों को व्यक्ति के विभिन्न कार्यों में बांटते हैं। इन सभी स्तरों के

अध्ययन में समूह, संस्था और व्यक्ति के प्रभुत्व-संरचना का मुख्य स्थान रहता है। राज्य और सरकार समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और कोई भी सामाजिक अध्ययन इनका अनादर नहीं कर सकता। सामाजिक विश्लेषण राजनीतिक संस्थाओं के कार्य को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण संदर्भ प्रस्तुत करता है। राजनीतिक समाजशास्त्र (पोलिटिकल सोशियोलोजी) का एक विषय के रूप में सामने आना इन दोनों विषयों के घनिष्ठ संबंध का प्रमाण है। राजनीति विज्ञान में सत्ता मूलक संबंध और राजनीति व्यवहार पर जो बल दिया जाने लगा है उससे ये दोनों विषय और नजदीक आए हैं।

नीतिशास्त्र से संबंध: नीतिशास्त्र मुख्यतः व्यक्ति के लिए अच्छे जीवन की प्राप्ति से संबंध रखता है। इसका औचित्य नैतिकता के आधार पर आंका जाता है और फिर यह निर्धारित किया जाता है कि किन लक्ष्यों की कामना की जाए और उनकी प्राप्ति के लिए किन साधनों का प्रयोग किया जाए। मानव को जीवन में "परम हित" की प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए ? इन सब विचारों में व्यक्ति मुख्यतः निजी जीवन को ध्यान में रखता है। दूसरी तरफ राजनीति का संबंध सामूहिक हित से है। *इसी संदर्भ में जॉन स्टुअर्ट मिल और दूसरे उपयोगितावादी* "सबसे बड़े समूह का सर्वाधिक हित" को राजनीति का लक्ष्य मानते हैं। कल्याणकारी समाज की सृष्टि के लिए किन संस्थाओं को बनाया जाए,उनका संगठन किस प्रकार का हो, और उन्हें क्रियान्वित कैसे किया जाए ? इन्हीं संदर्भों में नीति-शास्त्र और राजनीति विज्ञान में पारस्परिक संबंध होता है। अंत में राजनीतिक संगठन को इसी कसौटी पर आँका जाता है वह व्यक्ति के लिए एक अच्छे जीवन को किस हद तक सुनिश्चित करता है।

राजनीतिक व्यवस्था अच्छे जीवन की सामान्य स्थिति लोगों को उपलब्ध करके इस दिशा में काम करती है। कुछ चीजें अकेले व्यक्ति की पहुँच के बाहर होती हैं। इनके लिए संगठित समाज पर निर्भर होना पड़ता है। युद्ध, दासता, गरीबी एवं अस्वास्थ्यकारी परिस्थितियों से बचना, सुरक्षा, शिक्षा के अवसर, स्वतंत्रता, एवं अवकाश के अवसर, उपलब्ध कराना, ये ऐसी सुविधाओं के कुछ उदाहरण हैं-जिनके लिए व्यक्ति को संगठित समाज पर निर्भर होना पड़ता है। राज्य का लक्ष्य यह होता है कि ये सुविधाएँ सभी को उपलब्ध हों। लेकिन समाज में कुछ ऐसे वर्ग होते हैं जिनके लिए इन सुख-सुविधाओं के वितरण में पक्षपात होता है। प्राय: सभी समाजों में थोड़ी बहुत असमानता पाई जाती है। इस सामान्य स्थिति का विश्लेषण भिन्न सिद्धांतों और विचारधाराओं ने किया है और समाधान भी सुझाए जाते हैं। लेकिन असमानता किसी न किसी अनुपात में बनी रहती है। राजनीतिक प्रक्रिया सतत् एक से अधिक हित को ध्यान में रखती है, लेकिन कभी सब को सम्मिलित नहीं कर पाती। रस्किन ने इस प्रसंग में "अंत की ओर" (Unto the Last) की बात की थी। गाँधीवादी और सर्वोदय नेताओं द्वारा समर्थित "अंत्योदय" इसी लक्ष्य की ओर ध्यान आकर्षित करता है----बिना किसी अपवाद के समाज के सभी वर्गों तक पहुँचना। इस विचारधारा में "गरीबों में भी सबसे गरीब" के हित पर बल दिया जाता है।

प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत को राजनीति शास्त्र में इतना महत्वपूर्ण इसलिए माना गया है कि ये अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए आवश्यक स्थितियों की कल्पना करते हैं। लोगों के लिए प्राकृतिक अधिकार इसीलिए आवश्यक हैं कि उनकी आवश्यकताएं भी "प्राकृतिक" हैं। यह तर्क,यह सुझाव देता है कि जो एक व्यक्ति के लिए हितकारी है, वह सब के लिए हितकारी है। राज्यतंत्र से यह अपेक्षा की जाती है कि ऐसे अधिकारों की गांरटी वह लोगों को प्रदान करेगा। राज्यतंत्र का सही मापदण्ड अक्सर यह होता है कि कितने लोग वस्तुतः अधिकारों का उपभोग करते हैं। समाज में संगठित सत्ता के भंडार की हैसियत से, राज्यतंत्र इस लक्ष्य की प्राप्ति नकारात्मक और संकारात्मक दोनों तरीकों से करता है। एक तरफ तो वह लोगों को औरों के अधिकारों के अतिक्रमण से रोकता है, और साथ ही सामान्य हित के क्रियाकलापों को प्रोत्साहित करता है, जिन्हें व्यक्ति अपने-आप उपलब्ध नहीं कर सकता। इस तरह व्यक्ति के लिए अच्छे जीवन से संबंधित नैतिक मान्यता ही अंततः राजनीतिक व्यवस्था के कार्यों का पथ प्रदर्शन करती है। सरकार द्वारा बताए गए कानून आखिर इन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये होते हैं। जब नागरिक राजनीतिक व्यवस्था के कार्य को लोकहित की दृष्टि से स्वीकार करते हैं, तो वे स्वेच्छा से उन्हें मानने के लिए भी तैयार हो जाते हैं। यह वैधता की प्रक्रिया में सहायक होता है।

व्यक्ति और राजनीतिक व्यवस्था, दोनों अपने कार्य में नैतिक मापदण्ड के अनुसरण में अपने को सीमित पाते हैं। हर समय कुछ ऐसी शक्तियां होती हैं जो व्यक्ति और राज्यतंत्र की शक्ति से बाहर होती हैं और यही उनके कार्यों को सीमित

करती हैं। साधन की कमी एक ऐसी स्थिति है जो कार्यों को निश्चित रूप से सीमित करती है। व्यवहार्य और अव्यवहार्य आदर्श में फर्क करना आवश्यक है। राजनीति संभावनाओं की कला है। नीतिशास्त्र इसके मानक स्थापित करता है कि क्या अच्छा है और क्या नहीं।

समाज शास्त्रीय परिपेक्ष्य : इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र जैसे विभिन्न विषय आखिर मानव समाज का ही अध्ययन करते हैं और एक दूसरे से संबधित हैं। सामाजिक तथ्य और समस्याओं के स्तर पर ये भेद नहीं रह जाता और वहां सभी अंतर्दृष्टियों का मिश्रण दिखाई देता है। वास्तविक विश्लेषण के संदर्भ में ये भेद अक्सर कृत्रिम प्रतीत होते हैं। समाज विज्ञान के अंतर्गत समस्त मानवीय समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। सुविधा के लिए विद्वानों ने इनके अध्ययन को विभिन्न शाखाओं जैसे राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र में बाँट रखा है। नीति निर्माण की प्रक्रिया में सरकार को समाज के विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखना पड़ता है। ऐसा अनुभव किया जाने लगा है कि जो अध्ययन विभिन्न विषयों के परिपेक्ष्य को मिलाकर चलता है, वह सामाजिक वास्तविकता के अधिक नजदीक पहुँच पाता है। अध्ययन क्षेत्रों का सतत इस प्रकार विस्तार हो रहा कि ये विभिन्न विषयों की सीमा रेखाओं का अतिक्रमण कर लेते हैं। ऐसे कुछ नए विषय हैं, सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, राजनीतिक अर्थनीति और राजनीतिक समाजशास्त्र। आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से विभिन्न विषयों के इस कथोपकथन की प्रक्रिया को सहायता मिली है। सामाजिक विज्ञान ने एक सामूहिक भाषा प्राप्त की है।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन का महत्व

राजनीति विज्ञान जिन विषयों के अध्ययन से संबंध रखता है वह सामान्य भी हैं और विशिष्ट भी। इसका सम्बन्ध संघर्ष और एकीकरण, सत्ता-संगठन और उसके पारस्परिक प्रभाव से है और इस तरह यह सर्वव्यापी है। समाज, समूह और व्यक्ति के क्रियाकलापों में भी यह प्रक्रिया लक्षित होती है। अपने विशिष्ट अर्थ में, यह राज्य और सरकार का अध्ययन करता है, जिसका समाज पर सीधा नियंत्रण और असर होता है। सरकारी संगठन समाज के दूसरे संगठनों से इस अर्थ में भिन्न है कि आधुनिक वैधानिक समाज में कोई भी व्यक्ति राज्य के क्षेत्र से बाहर [illegible] है। राज्य कानूनों का प्रभावशाली नियंत्रण सभी के ऊपर रहता है। इस तरह यह एक अनिवार्य संगठन है, न कि ऐच्छिक। इन जटिल पहलुओं का विश्लेषण समाज के मूल प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालता है।

सरकार में निर्णय लेने की प्रक्रिया निश्चय ही बहुत जटिल होती है। ऐसे सामाजिक और राजनीतिक समूह होते हैं जिनकी अपनी माँगे होती हैं। बहुत सी मांगें परस्पर विरोधी होती हैं। उनमें समन्वय करना पड़ता है। फिर, विभिन्न प्रकार के प्रतिबंधों को ध्यान में रखना पड़ता है, जैसे साधनों का। एक राजनीतिक व्यवस्था विभिन्न प्रकार के दबावों और अनिवार्यताओं के बीच काम करती है। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ निर्णय ऐसे होते हैं जो संभव नहीं हैं और कुछ अन्य निर्णय ऐसे हो सकते हैं जो उपयुक्त नहीं हैं। राजनीतिक प्रक्रिया का ज्ञान सरकार की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझने में मदद करता है। इससे राजनीतिक व्यवस्था का संतुलित मूल्यांकन संभव हो पाता है।

राजनीति विज्ञान सरकारी संस्था और प्रक्रिया का अध्ययन भी करता है। इसका संबंध संविधान और सरकारी संस्थाओं की शक्ति और कार्य से भी है। उनकी भूमिका, महत्व और कार्य का विश्लेषण होता है। यह हमें कानून और कानून बनाने की प्रक्रिया के बारे में बताता है। सरकार और नागरिक, दोनों के अधिकारों और कर्तव्यों की विवेचना को महत्वपूर्ण माना जाता है। इन विषयों की जानकारी के फलस्वरूप नागरिकों की

सुकरात (लगभग 470-399 ई० पूर्व०)

प्रख्यात यूनानी दार्शनिक। पाश्चात्य दर्शन और विचारों की नींव डाली। प्लेटो का गुरू। प्लेटो द्वारा लिखित "सोक्रेटिक डॉयलाग"।

राज्य के क्रियाकलाप में सार्थक भागीदारी हो पाती है। सरकार के कार्य का वास्तविक ज्ञान, उन समूहों के बारे में जानकारी जो असरदार हैं, उनके अधिकार और विशेषाधिकार, इन जानकारियों के आधार पर नागरिक अपनी भागीदारी को अधिक प्रभावकारी बना सकते हैं।

राजनीतिक विज्ञान को एक सामाजिक विज्ञान के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह विषय बौद्धिक इतिहास के प्रसिद्ध लेखकों और दार्शनिकों के काम से संबंध रखता है, जैसे प्लेटो, अरस्तु, सुकरात, कौटिल्य, मेकियावेली, रूसो, मार्क्स और महात्मा गांधी। प्रभावोत्पादक और महत्वपूर्ण ज्ञान भंडार पर इसका दावा तर्कसंगत है। सदियों के विकास के इस विषय में नई संकल्पनाएं, सिद्धांत और पद्धति जुड़े हैं। राजनीति शास्त्र का अध्ययन विद्यार्थियों को इस शास्त्र के अनुशासन का प्रशिक्षण देता है।

> एक "राजनीतिज्ञ" और "राजनीति वैज्ञानिक" में क्या अन्तर है?

अभ्यास

1. राजनीति विज्ञान के अर्थ और क्षेत्र का वर्णन कीजिए। राजनीति विज्ञान के अध्ययन का महत्त्व बताइए।
2. राजनीति विज्ञान के अध्ययन में वैज्ञानिकपद्धति का क्या प्रयोग है? इसके उपयोग में क्या कठिनाइयां हैं?
3. "राजनीति विज्ञान" और "राजनीति" में क्या अन्तर है।
4. राजनीति विज्ञान को "सर्वव्यापी विज्ञान" किसने और क्यों कहा है?
5. निम्नलिखित में से किन्हीं दो के साथ राजनीति विज्ञान के समबन्ध बताइए :
   (क) इतिहास
   (ख) अर्थशास्त्र
   (ग) समाज शास्त्र
   (घ) नैतिक शास्त्र

अध्याय 2

राज्य, समाज और नागरिक

राज्य सामाजिक संगठन की उस अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें सामाजिक व्यवस्था और स्थायित्व आ गया हो। यदि प्रभुत्व की एक सर्वमान्य व्यवस्था को मान लिया जाए तो प्रतिदिन के अनिवार्य संघर्ष की स्थिति से ऊपर उठ कर, व्यक्ति और समूह की उच्च आवश्कताओं की ओर ध्यान देना आसान हो जाता है। सामाजिक अनुबंध सिद्धांत इस दृष्टिकोण का एक अच्छा उदाहरण है।

राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई? सामाजिक समझौते के सिद्धांत के अनुसार लोगों ने स्वेच्छा से राज्य का संगठन किया। आपस के इसी समझौते को सामाजिक अनुबंध कहा गया। इस सिद्धांत के प्रतिपादक हैं, टामस हॉब्स, जॉन लॉक और रूसो। ये लेखक इस पर सहमत हैं कि राज्य का प्रादुर्भाव अनुबंध के फलस्वरूप ही हुआ। प्राकृतिक अवस्था जो राज्य द्वारा प्रति स्थापित की गई, उसके विश्लेषण में इनके विचार भिन्न हैं। हॉब्स के अनुसार राज्य से पहले का बहुत समाज अस्थायी था और उसमें लोग स्वार्थी थे और आपस में लड़ते झगड़ते रहते थे। सामाजिक अनुबंध ने इस स्थिति का अंत किया। लॉक ने जिस प्राकृतिक अवस्था को चित्रित किया वह इतनी असहनीय नहीं थी। उन्होंने उस अवस्था को आनन्ददायक बताया। न्याय को सुनिश्चित करने के लिए कानून व्यवस्था को लागू किया गया और राज्य उसके लिए उत्तरदायी हुआ। रूसो की दृष्टि में प्राकृतिक अवस्था में जीवन "स्वतंत्र, स्वस्थ, ईमानदार और खुशहाल" था। अनुबंध ने राजनीतिक समाज स्थापित किया, जिसके अंतर्गत राज्य लोगों की सामान्य इच्छा (General Will) का प्रतिनिधि है। इस विश्लेषण के आधार पर तीनों दार्शनिक इस बात पर एकमत थे कि राज्य और सरकार का प्रादुर्भाव समाज के स्वैच्छिक निर्णय के बाद ही हुआ। राज्य का क्षेत्र और कार्य नागरिकों के मान्य अनुबंध पर आधारित हुआ। यह आवश्यक नहीं कि सामाजिक अनुबंध को हम सही ऐतिहासिक घटना मान लें। यह तो राज्य की प्रकृति के बारे में एक प्रतीकात्मक दृष्टिकोण है। सत्ता के आधार पर समाज को नियंत्रित करने का अधिकार राज्य के पास होता है। फिर राज्य ऐसा कार्य कैसे कर सकता है जो समाज के लिए हितकर नहीं है? राज्य की मार्क्सवादी व्याख्या में अर्थ पर आधारित वर्गों तथा उनके आपसी संबंधों को प्रमुखता दी गई है। मार्क्सवादी और अन्य समाजवादी चिंतकों ने राज्यहीन समाज की संकल्पना तो की

थॉमस हॉब्स *(1588-1679 ईसवी)*

प्रख्यात अंग्रेज दार्शनिक। ब्रिटिश सम्राट चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक। राज्य के सामाजिक समझौता सिद्धान्त के तीन प्रवर्तकों में से एक। प्रसिद्ध पुस्तक : "लेवायथन" *(Leviathan).*

है, लेकिन इसको अभी तक यथार्थ रूप नहीं दिया जा सका है। विभिन्न सिद्धांत और विचारधाराएँ राज्य को एक महत्वपूर्ण संस्था मानते हैं।

राज्य का स्वरूप

काफी समय से राज्य ही राजनीति विज्ञान के विश्लेषण का केंद्र बिंदु रहा है। फ्रैन्क गुडनाउ, हेराल्ड जे. लास्की, और जे डब्ल्यू. गारनर जैसे पहले के लेखक राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा राज्य के अध्ययन के रूप में देते थे। गारनर के अनुसार "राज्य ही राजनीति विज्ञान की शुरुआत और अंत है।" अध्ययन का विषय क्षेत्र अब राज्य से हटकर व्यापक सामाजिक प्रक्रिया को महत्त्व देने लगा है क्योंकि राज्य के स्वरूप में बदलाव आया है।

राज्य की एक मान्य व्याख्या उसके चार तत्वों की चर्चा करती है — भूभाग, जनसंख्या, संप्रभुता और सरकार। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य के सात तत्व बताये गये हैं : स्वामी, आमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। इनमें से जनपद का अर्थ जनसंख्या और भूभाग दोनों से है। आमात्य राज्य की व्यवस्था के अधिकारी वर्ग हैं और दण्ड का अर्थ है बल द्वारा सत्ता का उपयोग। इनमें संप्रभुता राज्य का मुख्य लक्षण है : बाकी तीन (भूभाग, जनसंख्या और सरकार) पर बल इसलिए दिया जाता है कि संप्रभुता का प्रयोग प्रभावकारी हो। संप्रभुता की परिभाषा है, निर्विवाद, विधि सम्मत अधिकार। सत्ता और अधिकार ऐसे लोगों के संबंधों की चर्चा करता है जो सत्ता का उपयोग करते हैं और जिनके ऊपर इसका उपयोग किया जाता है , जो आदेश देते हैं और जो उनका अनुसरण करते हैं। सत्ता का अस्तित्व अपने आप में नहीं होता, इसका उपयोग किसी व्यक्ति, समूह या संस्था के संदर्भ में ही होता है। इसी प्रकार संप्रभुता की विधि-संगत परिभाषा किसी संदर्भ में ही होगी। भूभाग और जनसंख्या ऐसे ही संदर्भ हैं। राज्य किसी जनसंख्या और भूभाग पर ही अपनी संप्रभुता का प्रयोग करता है। संप्रभुता की यह परिभाषा इसे सुनिश्चित करती है। सरकार राज्य का एक अंग है जिसके माध्यम से प्रभुसत्ता का उपभोग होता है।

भूभाग का निर्धारण और उस पर नियंत्रण राज्य के लिए आवश्यक है। सीमा की रक्षा भी उतनी ही आवश्यक है जितना उसका निर्धारण। विवादास्पद भूभाग पर परस्पर दावों से राज्यों में अक्सर लड़ाइयाँ हो जाती हैं। निर्धारित भूभाग में स्थित जनसंख्या राज्य का दूसरा तत्व है। राज्य को निर्जन भूभाग पर भी अपना अधिकार रखना पड़ता है, लेकिन किसी भी राज्य का संपूर्ण भूभाग बिना जनसंख्या के नहीं हो सकता। राज्य का भूभाग और उसकी जनसंख्या का आकार एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। एक प्रभावशाली राज्य का अभीष्ट आकार क्या होना चाहिए? प्लेटो, अरस्तू और रुसो जैसे लेखकों ने इस प्रश्न पर अपने विचार दिए हैं। लेकिन अन्य सुझावों की तरह यह भी समसामयिक स्थिति और समस्याओं को ध्यान में रखकर ही दिये गये हैं। वस्तुतः संयुक्त राष्ट्रसंघ के 159 सदस्य राज्यों में हम व्यापक विविधता पाते हैं। मालद्वीप संयुक्त राष्ट्र का सबसे छोटा राज्य है, जिसका क्षेत्र 298 वर्ग किलोमीटर है। अन्य राज्यों में वेटीकन नगर हौर मोनेको हैं, जिनका क्षेत्र 0.44 और 1.5 किलोमीटर और जनसंख्या क्रमशः 1000 और 26000 है। दूसरे सिरे पर, सोवियत संघ का क्षेत्रफल 22,402,200 वर्ग किलोमीटर और चीन की जनसंख्या 100,775,500 है और इनके बीच में भूभाग और जनसंख्या की दृष्टि से विभिन्न आकार वाले राज्य हैं। एक राज्य के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि भूभाग का आकार क्या है,

प्लेटो (लगभग 427-347 ई०पू०)

प्रख्यात यूनानी दार्शनिक। अरस्तु का गुरू। राजनीतिक दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों और विचारों की नींव डाली। "आदर्श राज्य" और "दार्शनिक राजा" से सम्बन्धित विचार से जुड़े हुए हैं। प्रसिद्ध पुस्तकें : रिपब्लिक (Republic), "दी स्टेट्समैन (The Statesman), "दी लॉज" (The Laws)

अधिक महत्त्व का विषय भूभाग पर प्रभावकारी नियंत्रण है। *यातायात और संचार के उन्नत साधनों से आधुनिक राज्यों को* इस प्रकार के नियंत्रण रखने में सहायता मिली है। कृषि और *उद्योग में आधुनिक प्रोद्योगिकी के व्यवहार से भूभाग का अभीष्ट* उपयोग संभव हुआ है। आकार के अलावा, भूभाग के अन्य *महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं, भौगोलिक स्थिति, साधन और जलवायु।* ये तत्व एक प्रभावकारी राज्य के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। भूभाग के स्थूल अर्थ की तुलना में उसका उचित उपयोग और प्रभावकारी नियंत्रण अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अतीत में जब शारीरिक शक्ति ही उत्पादन प्रक्रिया और देश की सुरक्षा का मुख्य आधार थी, तब जनसंख्या निश्चय ही राज्य के लिये सम्पत्ति थी। अभी भी जनसंख्या के महत्व को कम करके नहीं देखा जा सकता। लेकिन साधन की दृष्टि से असंतुलित जनसंख्या राज्य के लिये निश्चय ही एक दायित्व है। एशिया और अफ्रीका के जो राज्य पिछले चार दशकों में स्वतंत्र हुए हैं, खास कर उनके लिये यह संतुलन बनाये रखना एक मुख्य समस्या है। जनसंख्या का दबाव आधुनिक राज्यों के लिये एक कठिन समस्या है। इसीलिये जनसंख्या-नियंत्रण सरकारी नीतियों में इतना महत्त्वपूर्ण हो गई है। जनसंख्या के अलावा, नागरिकों के चरित्र के गुण और उनकी देशभक्ति राज्य के क्रियाकलाप पर अपना असर डालती है।

आकार की भिन्नता, चाहे वह भूभाग की हो या जनसंख्या की, राज्य की कानूनी स्थिति को प्रभावित नहीं करती हैं। अपने भूभाग के अंदर रहने वाली जनसंख्या और दूसरे राज्यों द्वारा छोटे या बड़े राज्यों को भी एक संप्रभुता संपन्न राज्य माना जाता है। वेटीकन सिटी जैसे छोटे और सोवियत संघ जैसे बड़े, दोनों को कानूनी स्थिति की दृष्टि से संप्रभुता सम्पन्न राज्य माना जाता है।

राज्य और *अन्य सामाजिक संगठनों में संप्रभुता के आधार* पर ही भेद किया जाता है। राज्य के अधिकार में सर्वोच्च और *अंतिम कानूनी सत्ता होती है। राज्य के अलावा किसी अन्य* के पास कानूनी सत्ता नहीं होती है। राज्य का एक कानूनी *अस्तित्व होता है। राज्य कानून बनाता है, तथा वह कानून द्वारा* नियंत्रित भी होता है। यह आवश्यक है कि राज्य की सर्वोच्चता देश के अंदर के लोगों और संस्थाओं द्वारा मानी जाए जिनके ऊपर इस सत्ता का उपयोग होता है। हर राज्य यह चाहता है कि *मान्यता स्वेच्छा से हो,* लेकिन इसे बल प्रयोग द्वारा सिद्ध करने के लिये भी हरदम तैयार रहना पड़ता है।

वैदेशिक *मान्यता संप्रभुता का दूसरा पक्ष* है। एक राज्य यह घोषणा करता है कि उसकी संप्रभुता का फैलाव एक खास *भूभाग पर है। इसकी सीमा का संरक्षण राज्य का परम आवश्यक* कार्य है। यह आवश्यक है कि दूसरे राज्य इस घोषणा को *मान्यता दें। अगर यह मान्यता नहीं मिलती तो राज्यों में आपस* में परस्पर विवाद हो सकता है और युद्ध भी संभव है। भूभाग और जनसंख्या के ऊपर राज्य की संप्रभुता का निर्विवाद होना आवश्यक है। किसी अन्य राज्य का इस प्रसंग में हस्तक्षेप *सर्वथा अमान्य होता है। ऐसी मान्यता राज्यों के समुदाय द्वारा* दी जाती है। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्था *संप्रभुता-संपन्न राज्य को सदस्यता प्रदान करती है। संयुक्त* राष्ट्र संघ की सदस्यता वाह्य संप्रभुता का एक लक्षण है। जब भी एक नया राज्य संगठित होता है, उसके लिए आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार की मान्यता आवश्यक है।

संप्रभुता एक महत्त्वपूर्ण कानूनी अवधारणा है। लेकिन वास्तविक व्यवहार में तथा सही अर्थों में यह संभव नहीं है। आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार की शक्तियां इसके उपयोग

जॉन लॉक (1632-1704 ईसवी)

प्रख्यात अंग्रेज दार्शनिक। प्रसिद्ध सामाजिक समझौता सिद्धान्त के तीन प्रवर्तकों में से एक। इंगलैंड में सांविधानिक राजतंत्र तथा मानव अधिकारों का महान समर्थक। उसके विचारों का संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान निर्माण पर प्रभाव पड़ा। प्रसिद्ध पुस्तक : टू ट्रीटाइज़ज़ ऑन सिविल गवर्नमेंट" (Two Treatises On Civil Government).
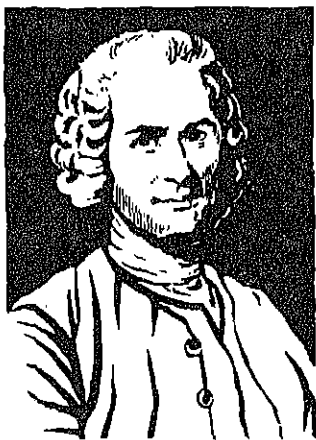
जीन जेक्स रूसो (1712-1778 ईसवी)

प्रख्यात यूरोपीय दार्शनिक। प्रसिद्ध सामाजिक समझौता सिद्धान्त के तीन प्रवर्तकों में से एक। "सामान्य इच्छा" तथा "लोकप्रिय सम्प्रभुता" के सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। रूसो के लेखन ने फ्रांसीसी क्रांतिकारियों को प्रेरित किया। प्रसिद्ध पुस्तकें : "सोशल कॉन्ट्रेक्ट" (Social Contract), "कनफेशन्स" (Confessions).

को सीमित करती हैं। राज्य न तो आपस में समान होते हैं, और न ही असीमित संप्रभुता संपन्न ही होते हैं। अधिक शक्तिशाली राज्य कम शक्ति वाले राज्यों पर सिर्फ प्रभाव ही नहीं, दबाव भी डालते हैं। विश्व में विभिन्न राज्य प्रभाव गुटों में बंटे हुए हैं, जिनमें अधिक ताकतवर और कम ताकतवर दोनों प्रकार के राज्य हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के विभिन्न केंद्र हैं। यह प्रभाव आर्थिक और सैनिक दोनों प्रकार के हैं। विश्व के राज्यों की परस्पर निर्भरता निरंतर बढ़ रही है, जिसके कारण नीतियों की रूपरेखा बनाने की प्रक्रिया सीमित हो जाती है। राज्यों के अंदर भी इसी प्रकार की असमानता की स्थिति होती है। कुछ व्यक्ति, समूह और संस्थाएँ अधिक शक्तिवान होते हैं। ये सरकारी कार्य पर अधिक दबाव डालने में सक्षम हैं। इस प्रसंग में आर्थिक और सामाजिक स्थिति भी महत्त्वपूर्ण हैं जिन्हें राज्य को संप्रभुता के उपयोग में ध्यान में रखना पड़ता है। संप्रभुता का उपयोग मनमाने ढंग से अधिक समय तक नहीं हो सकता।

राजनीतिशास्त्री राज्य की असीम सत्ता को संदेह की दृष्टि से देखते रहे हैं। जॉन लाक "सम्मति सिद्धांत" की बात करते हैं। जे. जे. रूसो के लिये "जनप्रिय संप्रभुता" और "सामान्य इच्छा" महत्त्वपूर्ण हैं। बेनथम और जॉन.स्टूअर्ट मिल "उत्तरदायी सरकार" पर बल देते हैं। इस बात पर काफी विचार किया गया है कि कितने लोगों के हाथ में सत्ता हो? और इस प्रसंग में होना क्या चाहिये। इस तरह हम "एक का शासन", "कुछ का शासन", और "बहुत का शासन" इनमें भेद पाते हैं। सांविधानिक विशेषज्ञों ने "सत्ता का विभाजन" और "नियंत्रण और संतुलन" को लागू करने के तरीकों पर विचार किया है। हेराल्ड जे लास्की तो राज्य को मानव जाति के मूलहित से असंगत बताते हैं।

अराजकतावादी (Anarchist), बहुलवादी (Pluralist) और मार्क्सवादी विचारधाराओं को राज्य के अस्तित्व से मूलभूत आपत्ति है। अराजकतावादी राज्य की सत्ता के किसी भी रूप में विश्वास नहीं रखते। वे व्यक्ति की असीमित स्वतंत्रता और ऐच्छिक सहयोग की बात करते हैं। इनमें से कुछ सामाजिक संगठन का पूर्ण विकेंद्रीकरण चाहते हैं। बहुलवादी विभिन्न स्तरों पर मानव के समूहीकरण और सरकारी काम पर उनके प्रभाव का विश्लेषण करते हैं। उनका प्रयास राजनीतिक व्यवस्था को व्यक्ति और समूह की आवश्यकता और उनकी मांगों के प्रति संवेदनशील बनाने का है। मार्क्सवादी विचारक राज्य को एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर, प्रभुत्व बनाये रखने का साधन मानते हैं। अपने मूलभूत विश्लेषण में ये मानव समाज की आदर्श स्थिति में राज्य के लुप्त होने की स्थिति में विश्वास रखते हैं।

राज्य के स्वरूप के मार्क्सवादी विश्लेषण से राज्य का सिद्धांत समृद्ध हुआ है। इस विचारधारा का मूल आधार यह है कि सामाजिक संस्थाएं उत्पादन के प्रचलित प्रक्रिया की छवि मात्र हैं जिसे वे "उत्पादन की पद्धति" (Mode of Production) कहते हैं, इसके अनुरूप ही मार्क्सवादी राज्य की व्याख्या "वर्ग विरोध" (Class autagonism) के रूप में करते हैं। उत्पादन का एक ढांचा विशेष लोगों को वर्गों में बांटता हैं। ये वर्ग एक दूसरे के विरोधी होते हैं। इसी आर्थिक वर्ग के साथ-साथ राज्य का भी प्रादुर्भाव होता है। एंगेल्स ने अपनी पुस्तक "परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य सत्ता की उत्पत्ति" में इसे स्पष्ट किया है : "राज्य समाज के एक खास

विकास-स्तर की उत्पत्ति है। इसमें इस बात की स्वीकृति निहित है कि समाज अपने में ही घोर अन्तर्विरोध में उलझ गया है, वह ऐसे विरोधों में बंट गया है जिसका समाधान संभव नहीं है तथा जिसे दूर करने में अपने को असमर्थ पाता है।'' एक वर्ग का दूसरें वर्गों पर प्रभुत्व बनाये रखने के लिए ''अधिकृत सत्ता की स्थापना'' आवश्यक है। लेनिन ने इस विचार को और आगे बढ़ाया, "राजनीतिक सत्ता, सही अर्थों में, एक वर्ग के हाथ में संगठित सत्ता है जिससे दूसरे वर्ग का दमन किया जाता है।'' इस तरह उत्पादन की पद्धति और उससे उत्पन्न वर्ग विरोध राज्य की प्रकृति को सुनिश्चित करते हैं। इतिहास के पृथक दौर में राज्य के विभिन्न स्वरूप होते है, लेकिन वे सभी ''वर्ग राज्य'' ही हैं। हर राज्य उसी ढांचे के अंदर काम करता है जिसे उत्पादन पद्धति निश्चित करती है।

जैसा राल्फ मिलीबैंड ने कहा है ''संरचनात्मक आयाम (structural dimension) के कारण राज्य का श्लिषण अधिक अर्थपूर्ण हो गया है। कोई भी राज्य ''उत्पादन पद्धति'' और उसके बाद के वर्ग विरोध के ''ढांचा सम्बन्धी प्रतिबन्ध'' (structural constraints) से बाहर नहीं होता। साथ ही किसी राज्य का स्वरूप उसके ऐतिहासिक विकास पर भी निर्भर होता है। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वारा एक राज्य प्रबल वर्गों की संरचना प्राप्त करता है। पूंजीवादी राज्य विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वारा ही हम इस विभिन्नता को पहचान पायेंगे। इस तरह राज्य का मार्क्सवादी सिद्धांत एक राज्य के ''वर्ग प्रभुत्व'' के सामान्य ढांचा और, साथ ही, उसको विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में भी स्थापित करता है। तीसरी दुनिया के देशों पर उपनिवेशवाद का व्यापक प्रभाव रहा है और इन देशों के विश्लेषण के लिये मार्क्सवादी दृष्टिकोण विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

राज्य और समाज

मनुष्य अपनी सुरक्षा और अधिक अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिये मिलकर रहते हैं। उनके संबंध अनेक प्रकार के होते हैं और हर एक सम्बन्ध का अपना लक्ष्य होता है। ये सम्बन्ध कई स्तरों पर होते हैं, जो लक्ष्य के हिसाब से ही संस्थाओं के रूप में विकसित होते हैं। इन्हीं लक्ष्यों, सम्बन्धों, और संस्थाओं की समष्टि को समाज कहते हैं। ''समाज'' शब्द का प्रयोग इसके पूर्ण अर्थ में होता है और आंशिक अर्थ में भी। हम ''भारतीय समाज'' जैसे पद का प्रयोग करते हैं और ''अन्ध निवारक समाज'' जैसा पद भी प्रयोग में आता है। हमारा अभिप्राय समाज के व्यापक अर्थ से है। समाज के विकास के साथ ही विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये संस्थाएं बनती हैं। समाज में विभिन्न प्रकार की संस्थाएं होती हैं: आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, और राजनीतिक। प्राय: जनसमूह और समाज में भेद किया जाता है। मनुष्य के इकट्ठा होने मात्र से समाज नहीं बन जाता। समाज की संज्ञा तभी दी जाती है जब सामूहिक इच्छा और सामूहिक लक्ष्य सामने हों। सामूहिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ही राज्य की स्थापना होती है, और इसके लिये कर्तव्य और सत्ता निश्चित होते हैं।

मनुष्य के अस्तित्व के लिये आवश्यक कार्य और क्षेत्र के विस्तार, दोनों दृष्टियों से समाज का अर्थ अधिक विस्तृत है। मानव वैज्ञानिकों ने ऐसे समाज के उदाहरण सामने रखे हैं जहाँ संगठित राज्य नहीं हैं, जैसे दक्षिण सूडान में नूएर, गोल्ड कोस्ट के उत्तरी क्षेत्र में तेलेन्सी, आंग्लमिश्र क्षेत्र में आनुक, कीकूयू, बीदोइन और पाकिस्तान और अफगानिस्तान की सीमा पर स्वात पठान। *इनमें संगठित प्राधिकार व्यवस्था तो है लेकिन विधिवत* संगठित राज्य नहीं है। इसके विपरीत, समाज के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी अर्थ में कुछ विद्वान कहते हैं कि ''समाज राज्य का पूर्ववर्ती है।'' राज्य के दो लक्षण, सम्प्रभुता और निश्चित भूभाग, समाज के अनिवार्य लक्षण नहीं हैं। हम पहले देख चुके हैं कि राज्य के अधिकार में कानूनी सत्ता है और वह आज्ञापालन करवानें के लिये बलप्रयोग कर सकता है। समाज और सामाजिक संस्थाओं के पास ऐसी सत्ता नहीं होती। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि लोग उनका आज्ञापालन ही नहीं करते। इसके लिये जो तत्व महत्त्वपूर्ण हैं, वे हैं, प्रथा, परम्परा, लोकाचार, और सबसे बढ़कर, व्यक्ति की सुविधा और स्वार्थ। इस सिलसिले में बलप्रयोग भी होता है, लेकिन इस प्रकार के बलप्रयोग का क्षेत्र और विस्तार सीमित होता है। किसी भी हालत में सामाजिक *संस्था की प्रक्रिया राज्य की सम्प्रभुता की सीमा का अतिक्रमण* नहीं कर सकती। समाज, सही अर्थों में, किसी खास भूभाग तक सीमित नहीं रहता। सामूहिक बन्धन और लक्ष्य की चर्चा हमने पहले की है, वे राज्य के विस्तार से कम या अधिक विस्तृत हो सकते हैं। ये दोनों हर समय एक दूसरे के अनुरूप नहीं होते।

राज्य और समाज में भेद उनके विस्तार की दृष्टि से भी

करना आवश्यक है। हम पहले देख चुके हैं कि समाज के अंतर्गत अनेक प्रथाएं, संबंध और संस्थाएं हैं, लेकिन राज्य मात्र राजनीतिक पक्ष से जुड़ा है। साथ ही, राज्य के अधिकार में अधिक सत्ता है जिसका उपयोग अलग-अलग पदों पर आसीन लोग करते हैं। अगर राज्य अपने कार्य और नियंत्रण को समाज के सभी कार्यों तक बढ़ाता है तो हो सकता है कि इससे समाज का विकास अवरुद्ध हो जाए। जो राज्य संपूर्ण सामाजिक संस्था को नियंत्रित करता है उसे सर्वसत्तात्मक राज्य कहते हैं। विद्वानों ने राज्य सत्ता के क्षेत्र को सीमित करने के तरीकों की चर्चा की है और कुछ खास संस्थाओं को अनन्य रूप से सामाजिक माना है।

राज्य और समाज के पारस्परिक संबंध समय-समय पर बदलते रहे हैं और इस विषय पर कई विचार हैं। एक मत का विश्वास था, या यों कहिये कि आशा थी कि अगर व्यक्ति को अपने हित की खोज में पूर्ण स्वतंत्र छोड़ दिया जाए, तो समुदाय स्वतः ही सामूहिक हित की दिशा में आगे बढ़ेगा। इसीलिये राज्य का अधिकार क्षेत्र आर्थिक प्रक्रिया में सीमित होना चाहिये। राज्य को सिर्फ यह देखना चाहिये कि आर्थिक प्रक्रिया एकाधिकरण से बचा रहे और विनिमय की प्रक्रिया दोषपूर्ण न हो और इसके लिये दोनों में संतुलन रखें। उद्योगीकरण और पूंजीवाद के विकास के शुरू में यह विचारधारा प्रचलित थी। अहस्तक्षेप (Laissez Faire) के सिद्धांत ने आर्थिक सामाजिक प्रक्रियाओं को अधिक स्वतंत्रता और राज्य के लिये सीमित कार्यक्षेत्र की वकालत की। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के शुरू में यह विचारधारा प्रमुख थी, जिसकी मान्यता यह थी कि "जो राज्य सबसे कम शासन करता है, वह सबसे अच्छा है।"

परवर्ती सिद्धांतों और विचारधाराओं ने "स्वतंत्र बाजार" की इस क्षमता पर संदेह व्यक्त किया कि इसके द्वारा "सबके हित" की स्थिति आ सकती है। इसके बदले अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और समाज के कुछ वर्गों के साथ अन्याय भी हो सकता है। इस विचार के अनुसार, सर्वहित की प्राप्ति स्वयंमेव नहीं हो जाती। सौदेबाजी (bargaining) और सहमति की प्रक्रिया से इसे संपादित करना पड़ता है। इसके बाद, केंद्रीय प्राधिकार का यह काम है कि उसे सुनिश्चित और सुरक्षित रखे। समाज का व्यवस्थित विकास सुनिश्चित करने के लिये इस विचार ने "बाजार का अदृश्य हाथ" के स्थान पर "राज्य नियंत्रण", और "स्वनियंत्रण" के बदले "केन्द्रीय योजना" को श्रेयकर बताया। इस विचार के अनुसार, बाज़ार का नियंत्रण और आय का पुनः वितरण राज्य के उचित कार्य हैं। कल्याणकारी राज्य (Welfare State) ने राज्य के कार्यक्षेत्र की व्यापकता को स्वीकार किया, जिसके अंतर्गत आर्थिक-सामाजिक समस्याओं को भी रखा गया। राज्य और समाज के इस संबंध के बारे में समाजवादी और मार्क्सवादी विश्लेषण कुछ भिन्न है। यह विचारधारा राज्य और समाज के अंतर के विचार से तब तक सहमत है, जब तक राज्य एक वर्ग का दूसरे वर्गों पर प्रभुत्व कायम रखने का एक माध्यम रहता है। एक "वर्ग राज्य" (Class State) का विस्तार सीमित होता है, और ऐसा उचित भी है। जब समाज से वर्गभेद लुप्त हो जाता है, तब आवश्यक नहीं कि राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित रहे। राज्य को अवश्य ही समाज के एक मात्र वर्ग, जैसे सर्वहारा वर्ग, के अभिरक्षक के रूप में कार्य करना चाहिए। इस तरह जो राज्य मार्क्सवादी-साम्यवादी विचारधारा स्वीकार करते हैं, उनका कार्यक्षेत्र व्यापक है और उनके पास अधिक सत्ता है।

आधुनिक युग में राज्य के पास सत्ता काफी अधिक है। यह निष्कर्ष विभिन्न भौगोलिक क्षेत्र और विभिन्न विचारधारा में विश्वास रखने वाले राज्यों पर लागू होता है। राज्यों की सत्ता में वृद्धि के विभिन्न कारण हैं। तीसरी दुनिया के राज्यों के लिये जो कारण हैं, वे अमेरिका और ब्रिटेन जैसे राज्यों से भिन्न हैं। समाजवादी राज्यों में और ही कारण हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उन्नति और सामाजिक-आर्थिक कारणों से समाज का ढाँचा अधिक जटिल हो गया है। यह राज्य सत्ता की वृद्धि का प्रमुख कारण है। इसलिये राज्य और समाज का भेद आज के युग में अधिक महत्व रखता है।

राज्य सामाजिक प्रक्रियाओं के पीछे भी चलता है (follower) और उनका दिशानिर्देशक (leader) भी है। समाज द्वारा अनुभव की हुई ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया, बहुत हद तक राज्य की प्रकृति और उसके कार्य को निर्धारित करती है। 1947 ई० से पहले करीब दो शताब्दी तक भारत का उपनिवेश होना, स्वतंत्रता से पहले के दो दशक के दौरान संविधान संबंधी अनुभव, और सबसे महत्त्वपूर्ण स्वतंत्रता संग्राम का स्वरूप, इन सबका भारतीय राज्य के स्वरूप पर निश्चित प्रभाव पड़ा है। इसी तरह, जो देश बीसवीं शताब्दी

के मध्य तक उपनिवेशवाद से लाभान्वित हो रहे थे, उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने के प्रभाव से वे बच नहीं सके। फिर कुछ सांस्कृतिक कारण होते हैं जिनसे अपने कार्य के दौरान राज्य बच नहीं सकता। और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है आर्थिक प्रक्रिया और उससे उत्पन्न समस्याओं का। राज्य को इन विभिन्न प्रक्रियाओं और समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इनमें से कुछ तो राज्य के कार्य के लिये गंभीर प्रतिबंध सिद्ध होते हैं। फिर भी समस्याओं के हल निकालने, अपने में लेने, या दबा देने के सिलसिले में राज्य का यह भी उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह समाज को सही दिशा दे। राज्य द्वारा कानून बनाने की प्रक्रिया इस कठिन कार्य का एक सही उदाहरण है। कानून के लिये समाज की प्रथाओं, परम्पराओं और प्राथमिकताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। साथ ही अनपेक्षित संस्थाओं को समाज से हटाना भी आवश्यक हो जाता है। राज्य और समाज का अन्योन्य संबंध है, वे एक दूसरे का निर्धारण करते हैं और साथ ही एक दूसरे से निर्धारित भी होते हैं।

राज्य और राष्ट्र

एक समाज के व्यक्ति, समूह और संस्थाओं के लक्षणों में एकरूपता होती है। इसी एकरूपता के आधार पर वह समाज अपने को अन्य समाजों से अलग मानता है। एकरूपता के साथ-साथ विभिन्नताएँ भी होती हैं। हमने पहले देखा है कि राजनीति का संबंध इन दोनों से है : एकरूपता और विभिन्नता, संघर्ष और समन्वय। समाज में समन्वय के स्तर को उच्चतम सीमा तक बढ़ाना राज्य का मुख्य लक्ष्य होता है। राष्ट्र का भाव और राष्ट्रीयता की प्रक्रिया एकात्मकता की भावना पर जोर देती है, जिसमें कई आधारों पर एकरूपता पर ज़ोर दिया जाता है : भाषा, धर्म, जातीयता प्रथा, मिथक, मान्यता और संस्कृति। इनके द्वारा अलग-अलग या सम्मिलित रूप से, लोगों में एकता की भावना आती है।

राष्ट्र के प्रादुर्भाव में किन तत्वों से सहायता मिलती है, इस प्रसंग में अनेक तत्वों की चर्चा की जाती है। कुछ लेखक भौगोलिक और जलवायु संबंधी तथ्यों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। अलग-थलग क्षेत्र में रहने वालों में अधिक एकात्मकता की भावना नहीं हो सकती है। अवरुद्ध क्षेत्र और खुले समुद्रतट वाले देशों के अपने विशेष लक्षण होते हैं। भाषा संचार का मूल साधन है और इसीलिए प्रसिद्ध विद्वान फिक्टे के समय से, लोगों को आपस में घनिष्ट रूप से जोड़ने के लिए भाषा को महत्त्वपूर्ण घटक माना गया है। स्वतंत्रता संग्राम के समय से ही भारत में भाषा के आधार पर अंशभूत इकाइयों के संगठन को उपयुक्त आधार माना गया और 1956 ई० के राज्य पुनर्गठन के बाद वह एक मान्य नीति हो गई। किसी मत या विचारधारा में सम्मिलित होने से भी राष्ट्र के प्रादुर्भाव में सहायता मिलती है। हम अक्सर "अरब राष्ट्र" जैसे शब्द का प्रयोग सुनते हैं। सामूहिक आदर्श और "सामूहिक भवितव्यता में सम्मिलित" होने की प्रक्रिया से भी साथ रहने की भावना को बल मिलता है। ब्रिटिश शासन से स्वतंत्र होने की भावना लोगों के विभिन्न वर्गों को भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की मुख्यधारा में ले आई। विभिन्न संस्कृति, भाषा और धर्म के लोगों ने 1917 ई० में एक सुनिश्चित भविष्य की आशा में सोवियत संघ की स्थापना की। व्यक्ति की तरह राष्ट्र भी इतिहास की उपज होते हैं। उनके अस्तित्व का हर क्षण उनके अतीत के अनुभवों का योगफल होता है। इस अनुभव के दो पक्ष हैं : वस्तुपरक और आत्मपरक। इतिहास की विभिन्न घटनाओं का अनुभव लोगों में विभिन्न प्रकार से होता है। यह अनुभव मुख्यत : आत्मपरक होता है। इसी अनुभव के आधार पर घटनाओं को समझा जाता है और उनकी व्याख्या होती है। इस प्रक्रिया में कुछ घटनाओं का चयन होता है और कुछ भुला दी जाती हैं। कुछ घटनाओं को बढ़ा-चढ़ा कर देखा जाता है और कुछ को बहुत कम महत्व दिया जाता है। आत्मपरक अनुभव का व्यवहार पर अधिक सुनिश्चित असर होता है। "इतिहास के पुनर्निर्माण" की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। "अतीत" को पुनर्जीवित किया जाता है, जिससे सामान्य पारस्परिक लगाव को बल मिलता है। बहुत से नये राष्ट्र गलत "मिथिक" और विचारों को अन्य रूप में प्रस्तुत करने के लिए इतिहास का पुनर्लेखन आवश्यक समझते हैं। भारत के बारे में ब्रिटिश इतिहासकारों के बुहत से विचार और व्याख्याएं भारतीयों को स्वीकार नहीं है। एक राष्ट्र के निर्माण में "सामान्य अतीत" (common past) और "सामान्य भवितव्यता" (common destiny) का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता मुख्यत : "एक होने" (belonging together) की भावना से संबंध रखते हैं। राज्य एकात्मकता की इस भावना के समरूप होता भी है, और कभी-कभी नहीं

भी होता है। लेकिन राष्ट्र-राज्य के आदर्श की बहुत दिनों से, कद्र होती रही है। एकीकरण के तत्वों को एकात्मक करने में राज्य का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। लेकिन इस प्रक्रिया में राज्य के अलावा भी कई तत्व होते हैं। बहुत समय तक "एक राष्ट्र-एक राज्य" के विचार पर बल दिया जा रहा था। लेकिन ऐसे बहुत से राज्य हैं जो बहुराष्ट्रीय और बहुसांस्कृतिक हैं। स्विटजरलैण्ड, सोवियत संघ, और भारत ऐसे देश हैं जहाँ विभिन्न परिणामों में बहुस्तरीय विभिन्नताएँ विद्यमान हैं, जिसके कई पहलू हैं : संस्कृति, धर्म, भाषा और क्षेत्रीय इतिहास। विभिन्न संस्कृतियों के सहअस्तित्व से एक प्रकार की सामाजिक संस्कृति (composite culture) उत्पन्न हुई है, जो इन देशों में अनुपम है।

राष्ट्र राज्य के कार्य के लिये एक मानक व्यवस्था और सांस्कृतिक ढाँचा प्रस्तुत करता है। एक निश्चित भूभाग में रहने वालों का सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषागत परिचय हो सकता है जो एक क्षेत्र तक सीमित हो। उनमें ऐसी भावना हो सकती है कि वे एक खास समूह के सदस्य हैं जो दूसरे समूहों से भिन्न है। एक राष्ट्र के अंदर समूह की विशेष भावना को ही उपराष्ट्रीयता की संज्ञा दी जाती है। लेकिन किसी सीमित वर्ग, या क्षेत्र की उपराष्ट्रीयता एक मिश्रित वरदान है। कुछ विद्वानों का मत है कि एकात्म भावना नई आर्थिक गतिविधियों को जन्म देती है। भारत के कुछ क्षेत्रों का पिछड़ापन क्षेत्रीय परिचय के अभाव के कारण बताया जाता है। उपराष्ट्रीयता की भावना जब तक व्यापक राष्ट्रीयता के अंतर्गत काम करती है, तब तक तो राज्य के कार्य पर इसका विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन किसी भी क्षेत्र या वर्ग का बहुत अधिक अनन्य परिचय राज्य के शांतिपूर्ण कार्य के लिये प्रायः आशंका का कारण होता है। इन्हीं संभावनाओं के कारण सभी राज्यों के लिये राष्ट्र का विचार इतना महत्वपूर्ण है। इसीलिए भारत में राष्ट्रीय एकीकरण को इतना महत्व दिया जा रहा है।

क्या आप समकालीन भारत से उप-राष्ट्रवाद के दो उदाहरण दे सकते हैं?

स्वतंत्रता से पहले भारतीय उपमहाद्वीप विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों में बंटा हुआ था, जिसका एकीकरण प्रभावशाली राष्ट्रीय भावना के आधार पर हुआ। स्वतंत्रता संग्राम ने भारतीय राष्ट्र की नींव रखी जिसमें उपनिवेशवाद विरोधी चेतना और राष्ट्रीयता की भावना का भी योगदान था। इस दौरान, सांप्रदायिकता का एक नकारात्मक तत्व सामने आया। ब्रिटिश उपनिवेश-नीति से सांप्रदायिकता की भावना को सतत् प्रोत्साहन मिला। स्वतंत्र भारत को सांस्कृतिक, धार्मिक, भाषा संबंधी, और आर्थिक भिन्नताओं की कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा। समाज का विभिन्न जातियों में विभाजन एक और समस्या है। कुछ जनजातीय समूह अपनी अलग पहचान बनाना चाहते हैं। प्रायः ये समस्याएं एक दूसरे में मिलकर कुछ इलाकों में, प्रभावशाली क्षेत्रीय भावना का रूप ले चुकी हैं। कुछ इलाकों में "बाहर" और "अन्दर" के लोगों में प्रभेद करने के लिये धरती पुत्र (Sons of soil) का नारा लगाया जाता है। इन बहुपक्षीय समस्याओं के सामने, राष्ट्रीय एकता एक कठिन समस्या बनी हुई है। राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया राष्ट्रीय कार्यसूची का एक महत्वपूर्ण विषय बना हुआ है।

राज्य और नागरिक

राज्य के संगठन में जनसंख्या एक तत्व माना जाता है। राज्य और लोगों के संदर्भ में ही राज्य सत्ता की सार्थकता होती है। भूभाग में रहने वाले सभी लोगों के सम्बन्धों पर राज्य सत्ता का प्रभाव होता है, क्योंकि यह सत्ता सर्वोपरि होती है। समाज में सत्ता-मूलक संबंध के और भी स्तर होते हैं, लेकिन ये सभी राज्य सत्ता के अंतर्गत होते हैं। राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि के साथ ही, लोगों और राज्य के बीच सम्पर्क में भी वृद्धि हुई है। लोग राज्य पर सिर्फ कानून और व्यवस्था, और सुरक्षा के लिए ही निर्भर नहीं हैं। डाक-तार, बिजली, सिंचाई सुविधा, यातायात आदि बहुत सी सामान्य सामाजिक सुविधाएं राज्य के द्वारा दी जाती हैं। अतः राज्य और लोगों के संबंध महत्त्वपूर्ण हैं।

एक राज्य के भूभाग में निवास करने वाले सभी लोग उसके नागरिक नहीं होते। नागरिकता की कानूनी परिभाषा राज्य द्वारा की जाती है। प्राकृतिक नागरिकता की व्यवस्था में जिनके माता-पिता राज्य के नागरिक होते हैं, उन्हें नागरिकता स्वतः प्राप्त होती है। कुछ देशों में, उन्हें नागरिक माना जाता है जिसका जन्म उसी देश में होता है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि माता-पिता भी उस देश के ही नागरिक हों। कोई भी राज्य की नागरिकता के लिए प्रार्थना कर सकता है, जिसका निर्णय वह राज्य लेता है। हर एक राज्य में जनसंख्या का एक हिस्सा उन लोगों का होता है जो नागरिक नहीं हैं और कभी-कभी

ऐसे लोगों की संख्या बड़ी होती है। दूसरे देशों के राजनयिक प्रतिनिधियों के अलावा हर देश में विभिन्न प्रकार के प्रवासी होते हैं। कभी-कभी ये प्रवासी बहुत दिनों तक रह जाते हैं। भूभाग में रहने वाले सभी, नागरिक और प्रवासी दोनों प्रकार के लोगों को राज्य से कुछ अपेक्षाएं रहती हैं, जैसे सुरक्षा। लेकिन नागरिक राज्य से और कई प्रकार के अधिकारों की मांग कर सकते हैं। जब वे अनुभव करते हैं कि राज्य द्वारा दिये गये अधिकारों से वे वंचित हैं, तो वे "न्याय" के लिए न्यायालय के पास भी जा सकते हैं। सभी अधिकार समान नहीं होते और उनकी वैधता में भी असमानता होती है। कुछ अधिकार ऐसे होते हैं कि अगर नागरिकों को उनसे वंचित किया जाता है, तो न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है। कुछ और अधिकार आदर्श के रूप में होते हैं जिन्हें राज्य कानून बनाने और निर्णय लेने के समय तो ध्यान में रखता है, लेकिन उनकी मांग न्यायालय में नहीं की जा सकती। ये अधिकार क्रमशः न्याय योग्य और न्याय अयोग्य कहलाते हैं। भारतीय संविधान मूलाधिकार और राज्य के निर्देशक सिद्धांत के रूप में दोनों प्रकार के अधिकार प्रदान करता है। कौन से अधिकारों को कहाँ तक वैधता दी जाए, यह कई बातों पर निर्भर करता है — विचारधारा पर, विश्वास, राज्य की क्षमता खास कर आर्थिक और वह ऐतिहासिक स्थिति जिसमें अधिकारों का घोषणा-पत्र निर्धारित हुआ। अधिकारों का जो भी स्वरूप हो, उन सभी में नागरिकों के कुछ कर्तव्य अन्तर्निहित होते हैं। कुछ कर्तव्य तो अधिकारों का ही दूसरा पक्ष होते हैं। उदाहरण के लिए व्यक्तिगत सुरक्षा के अधिकार में यह कर्तव्य निहित है कि हम दूसरों को इस अधिकार से वंचित न करें। दूसरों को अधिकार से वंचित न करना ही कर्तव्य होता है। दूसरे प्रकार के कर्तव्य वे हैं जो राज्य के प्रति होते हैं। राज्य के अपने निर्धारित कार्य करने के लिए यह आवश्यक है कि नागरिक अपने कर्तव्यों का पालन करें। कर अदा करना नागरिकों का ऐसा ही एक कर्तव्य है। राज्य और नागरिक के बीच संबंधों की परिधि अधिकार और कर्तव्यों द्वारा निर्धारित की जाती है।

नागरिकता का एक और पक्ष है, भागीदारी। नागरिकों से राज्य के कार्य में भागीदार होने की अपेक्षा की जाती है। नागरिक और प्रजा का विभेद इसी संदर्भ में किया जाता है। लोकतंत्र से पूर्व के राज्य के स्वरूप में, जैसे राजतंत्र, भूभाग में निवास करने वाले सभी लोगों को प्रजा के नाम से जाना जाता था। राज्य के निर्णयों से वे प्रभावित तो होते थे, लेकिन निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनका कोई हाथ नहीं होता था। चुनाव में भागीदारी का अधिकार लोकतंत्र में नागरिकों का एक अनन्य और महत्त्वपूर्ण अधिकार है। लेकिन सभी नागरिकों की भागीदारी की मात्रा समान नहीं होती और वे राज्य के सभी कार्यों में हिस्सा नहीं ले पाते। लोकतंत्र के मूल्यांकन में भागीदारी की विशेषता को महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।

राज्य की प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग को संतुष्ट नहीं कर सकता। इसके निर्णय और कानून अधिकतम लोगों का हित और अभिरुचि ध्यान में रखते हैं। लेकिन इसमें संपूर्ण जनसंख्या को सम्मिलित करना संभव नहीं हो सकता। राज्य के कानून लोगों के विभिन्न वर्गों के लिए होते हैं, जिनमें विधि का उल्लंघन करने वाले एवं ऐसे लोग भी होते हैं जिनका राज्य से मौलिक मतभेद है। उसके अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक और वैयक्तिक असमानता के कारण कुछ विकृतियां आ जाती हैं, जो राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। ऐसे कार्य कुछ व्यक्ति और वर्ग विशेष के लिए ही लाभदायक हैं, जो दूसरों की कीमत पर ही होते हैं। इन समस्याओं के बावजूद, हम देखते हैं कि अधिकतर नागरिक बहुधा राज्य का आज्ञापालन करते हैं। राजनीति वैज्ञानिकों का ध्यान इस प्रश्न पर अक्सर गया है कि आखिर नागरिक राज्य का आज्ञापालन क्यों करते हैं? इस प्रश्न का स्वाभाविक परिणाम यह है कि राज्य को ऐसे कौन से कार्य करने चाहिए जिससे नागरिक उसका सहज रूप में आज्ञापालन करें।

"आज्ञापालन" के प्रश्न का राजनीतिक विचारकों ने अपने अपने ढंग से अर्थ लगाया है, उसकी व्याख्या की है, और उसी के अनुसार कार्य का आदेश दिया है। रुसो ने अधिकारों की गारंटी के महत्व पर बल दिया है। लेकिन राज्य जिन अधिकारों की गारंटी देता है उन पर विचारधारा और अन्य अनेक तत्वों का प्रभाव होता है। जे डब्ल्यू वर्गसा की धारणा है कि आज्ञापालन उन कानूनों की विशेषता पर निर्भर होता है, जो मूलतः "अच्छे" होते हैं। "अच्छे" और "बुरे" का निर्णय आसान नहीं। प्रश्न यह है कि यह कानून किन लोगों के लिए "अच्छा" है? समाज में विभिन्न प्रकार के सामाजिक-आर्थिक समूह होते हैं, और जो एक समूह के लिए "अच्छा" है वह दूसरे के लिए भी "अच्छा" हो यह आवश्यक नहीं है। दरअसल, कुछ स्थितियाँ

ऐसी हो सकती हैं जब एक के लिए "अच्छा", दूसरे के लिए "बुरा" होता है। समाज में परस्पर विरोधी आर्थिक स्वार्थ होते हैं। लास्की के अनुसार नागरिकों की "न्याय की अनुभूति" उन्हें प्रेरणा देती हैं। लेकिन न्याय का प्रश्न ही ऐसा है जिसका समाधान आसान नहीं। हाब्स कहते हैं कि नागरिक आज्ञापालन अवज्ञा के परिणाम के डर से करता है। यह कथन उनके विचारधारा के समग्र ढाँचे के अनुरूप ही है। यह एक प्रधान कारण है। लेकिन यह उन अल्पसंख्यक लोगों पर ज्यादा लागू होता है जो सांधारणतया आज्ञापालन नहीं करते। अगर बहुत से लोगों के आज्ञापालन के लिए अक्सर बल प्रयोग किया जाए, तो राज्य के लिए अपने को कायम रखना कठिन हो जायेगा। राज्य उन बहुसंख्यक लोगों पर निर्भर करता है जो अभ्यासवश आज्ञापालन करते हैं। जब एक संगठन को किसी अतिरिक्त प्रयास की आवश्यकता नहीं होती और अपने मानदण्ड और कार्यविधि का पालन अभ्यास के आधार पर करवा लेता है, तभी उसे संस्था की संज्ञा दी जाती है। लेकिन, ऐसे अभ्यास का स्रोत क्या है? किसी जनसंख्या में अधिकतर लोग ऐसे होते हैं जो अनुमोदन करते हैं, शंका नहीं। फिर, वैधीकरण की प्रक्रिया की भी बात की जाती है, जिसमें लोगों में यह सच्चा विश्वास होता है, या विश्वास करवा दिया जाता है, कि राज्य के अधिकार में जो सत्ता है वह उसी के पास होनी चाहिए,

राबर्ट डाल (1915 ईसवी)

एक अमरीकी राजनीतिक वैज्ञानिक जिसका नाम आधुनिक बहुलवाद के विचार से जुड़ा हुआ है। प्रसिद्ध पुस्तकें : "कांग्रेस एन्ड फारैन पोलिसी" (Congress and Foreign Policy)", मार्डन पोलिटिकल एनालेसिस (Modern Political Analysis).

कि राज्य विधिपूर्ण है। यह प्रक्रिया राज्य के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण है और अनेक राजनीतिक सिद्धांतों का ध्यान इस ओर गया है।

रावर्ट ए॰डाल के शब्दों में वैधता उस स्थिति को कहते हैं जब "वे लोग, जो आदेशों के लक्ष्य होते हैं, यह विश्वास करते हैं कि सरकार की संरचना, कार्य विधि, कार्य निर्णय, नीति, अधिकारी, और नेता, सभी न्यायसंगत उपयुक्तता. या नैतिक अच्छाई, जैसे गुणों से युक्त हैं। संक्षेप में उन्हें बाध्यकारी नियम बनाने का अधिकार है।" हर एक राज्य वैधता का ऊँचा स्तर प्राप्त करने का विशेष प्रयास करता है। जो प्रक्रिया राज्य को वैधता प्रदान करती है उसकी व्याख्या मैक्स वेबर, और आधुनिक लेखक, डेविड ईस्टन, ने की है। राज्य के कानून वैधता की भावना के कारण ही मान्य होते हैं। इस प्रक्रिया में विचारधारा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। हम यहाँ "वैध" और "कानूनी",

मैक्स वेबर (1864-1920 ईसवी)

जर्मन समाजशास्त्रीय। उसने समाज के अध्ययन में "मूल्य-निरपेक्ष' दृष्टिकोण पर बल दिया। "नौकरशाही" और "करिश्मों पर आधारित सत्ता पर" उसके विचार राजनीति शास्त्र में विशेष रूप से पाये जाते हैं। प्रमुख पुस्तकें : "दी प्रोटेस्टेन्ट एथिक एन्ड दी स्प्रिट ऑफ कैपिटेलिज्म" (The Protestent ethic and the spirit of Capitalism), "जनरल इकॉनामिक हिस्ट्री" (*General Economic History*).

इन दोनों में भेद करना चाहेंगे। वैधता के स्तर में स्थिति के अनुसार विभिन्नता आती है जिस पर इस बात का प्रभाव पड़ता है कि राज्य अपना कार्य किस प्रकार करता है। लेकिन, जब हम "कानूनी" शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसमे निर्णयात्मकता

होती है। कानून का पालन तो होना ही चाहिए और जो उसका आज्ञापालन नहीं करते उनके विरुद्ध दंडात्मक कार्यवाई की जानी चाहिए।

इस प्रकार नागरिकों की सहमति ही राज्य सत्ता की निर्णायक गारंटी है। राज्य व्यक्ति और समाज के सभी क्रियाकलापों को अंतर्विष्ट नहीं कर सकता, और यह होना भी नहीं चाहिए। राज्य सत्ता की सीमा क्या है? व्यक्ति और समाज के कौन से क्रियाकलाप राज्य में अंतर्विष्ट होने चाहिए? इस प्रसंग में व्यक्तिवाद और समष्टिवाद इन दो सिद्धांतों के विचार परस्पर विपरीत हैं। पहला दृष्टिकोण व्यक्ति को प्राथमिकता देता है और राज्य के कार्य को सीमित रखना चाहता है। दूसरे सिद्धांत के मत में सामूहिक हित का अर्थ पूरे समाज से है और इस सामूहिक हित के निष्पादन के लिए राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक होना चाहिए। इन दोनों दृष्टिकोणों के और भी अल्पांतर विभिन्न विचार हैं। कल्याणकारी राज्य इन दोनों विचारों को अभिसरण करता है और इस तरह विकास कार्यों पर उसका बल है।

अभ्यास

1. राज्य से आप क्या समझते हैं?
2. राज्य के किन्ही दो तत्वों का वर्णन कीजिए।
3. क्या निम्नलिखित को राज्य कहा जा सकता है? कारण दीजिए :
   (क) नेपाल (ख) संयुक्त राष्ट्र संघ (ग) उत्तर प्रदेश
4. राज्य के लिए सम्प्रभुता क्यों अनिवार्य है?
5. निम्नलिखित में अन्तर स्पष्ट कीजिए :
   (क) राज्य और समाज
   (ख) राज्य और राष्ट्र
6. राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।
7. लोकतंत्रीय राज्य में नागरिक की भूमिका का वर्णन कीजिए।
8. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) राज्य सप्तांग सिद्धांत
   (ख) उपराष्ट्रवाद
   (ग) न्याय योग्य तथा न्याय अयोग्य अधिकार

अध्याय 3

राज्य और संघ

मानव समाज में व्यक्ति आपस में विभिन्न प्रयोजनों के लिए संगठन का निर्माण करते हैं। परिवार की तरह कुछ समूह प्राकृतिक रूप से बन जाते हैं। ऐसे समूह भी होते हैं जिन्हें कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए विशेष रूप से प्रयत्न पूर्वक बनाया जाता है। कुछ समूहों का एक सुनिश्चित ढाँचा होता है, जिसमें लोग उन समूहों और उसके प्रतीकों के प्रति सचेत होते हैं। ऐसे समूहों के उदाहरण हैं: परिवार, गाँव, राष्ट्र, श्रमिक संघ, और राजनीतिक दल। उनकी सदस्यता, सीमाएँ, आपसी सम्बंधों के आधार, एक दूसरे से अपेक्षाएँ जैसी बातें सदस्यों को न्यूनाधिक रूप में मालूम होती हैं। इसके अलावा, कुछ अर्ध समूह ऐसे होते हैं, जिनकी परिभाषा अस्पष्ट होती है। इनके मापदण्ड और इनसे क्या अपेक्षा है, ये सभी अपरिभाषित होते हैं और सदस्य इसे सम्मिलित रूप से समझते भी नहीं। सामाजिक वर्ग, प्रतिष्ठा के आधार पर बने समूह, अवस्था और लिंग पर आधारित समूह, और जन समूह ऐसे समूहों के उदाहरण हैं। लेकिन समूह और अर्ध समूह की सीमा रेखा अनिश्चित सी है और ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब अर्ध समूह एक क्रमबध्द परिभाषा अपना लेता है और एक निश्चित दिशा में अग्रसर होता है। एक सामाजिक वर्ग जागरूक हो सकता है और वह अपने हित के लिए प्रतिबध्द हो जाता है। किसी खास अवस्था मूलक समूह के सदस्य, जैसे युवा-वर्ग, कुछ सुधारों के लिए अग्रणी हो सकते हैं। नारीवादी संगठन अक्सर महिलाओं के विशेष अधिकारों के लिए संघर्ष करते हैं। कभी-कभी एक जनसमूह प्रेरित होकर सम्मिलित रूप से किसी खास दिशा में बढ़ता है। लेकिन अर्ध समूह की प्रक्रिया में यह बदलाव प्रायः स्वतः प्रवर्तित और अस्थाई होता है। संघ की परिभाषा इस तरह की जा सकती है कि यह व्यक्तियों का एक समूह है जिसका संगठन एक हित के साधन के लिए होता है। संघ को एक नहीं कई हितों का ध्यान रखना पड़ता है।

समुदाय और संघ

संघ और समुदाय मे अक्सर अंतर किया जाता है। इसका चिरसम्मत विवरण 1887 में एफ़० टोनीज़ द्वारा दिया गया। सदस्यों के संबंधों के स्वरूप पर आधारित यह भेद जर्मन भाषा के इन शब्दों द्वारा किया गया — गेमेन शाफ्ट और गेशेल शाफ्ट। पहले का मतलब समुदाय से है और दूसरा संघ की ओर इशारा करता है। इनके लक्षणों की व्याख्या में समुदाय को इस तरह समझाया गया है, "अन्तरंग व्यक्तिगत और सम्मिलित अनन्य जीवन"। किसी संघ की स्थापना उस समय होती है जब व्यक्ति जानबूझकर और सचेतन रूप से इस प्रकार के संगठन का निर्णय लेता है। फिर, एक समुदाय अक्सर व्यक्ति के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप को प्रभावित करता है। इसकी सदस्यता भी अनन्य होती है। व्यक्ति एक संघ से अपनी सभी आवश्यकताओं की नहीं, कुछ विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा करता है। सामूहिक अस्तित्व के दो स्वरूपों की परिभाषा यही है, किन्तु मुख्य भेद उन शक्तियों से संबंध रखता है जो इन्हें आपस में बाँध कर रखता है। समुदाय व्यक्ति के ज्ञान और भावना पर आधारित होता है। संघ सदस्यों द्वारा परिभाषित हित के बारे में तर्क युक्त सहमति पर निर्भर रहता

हैं। लोग स्वेच्छा से संघ के सदस्य बनते हैं और वर्ण,परिवार जैसे समुदाय की सदस्यता जन्म के आधार पर होती है। व्यक्ति एक परिवार और वर्ण में ही जन्म लेता है, लेकिन संघ के साथ ऐसा नहीं होता। किसी राजनीतिक दल से कोई जन्म से नहीं बंधा होता। व्यक्ति पर संघ की सदस्यता बाध्य नहीं होती।

ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ समुदाय और संघ एक-दूसरे का स्वरूप और कार्य ग्रहण कर लेते हैं। वर्ण जाति में समुदाय के सभी लक्षण हैं। लेकिन कुछ विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे जाति संघ बना सकते हैं। ऐसे बहुत से संघ शिक्षा संस्थाओं में स्थान और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की माँग करते हैं। राजनीतिक दल जैसे संघ और संगठन अपनी लक्ष्य की पूर्ति के लिए समुदायों का उपयोग करते हैं। बहुत से राजनीति दल, परिवार, जाति, वर्ण, और धर्म को प्रधानता देते, हैं। समुदाय की भावना से संघ को अक्सर अधिक मान्यता मिल जाती है। बदले में संघ से समुदाय को एक संगठन का लाभ होता है, जिससे सामाजिक आदान-प्रदान और सुविधाओं की प्राप्ति में सहायता मिलती है।

आपके क्षेत्र में सक्रिय किन्हीं दो ऐसे संघों के नाम बताइये जो जाति पर आधारित हैं।

व्यक्ति अनेक स्तरों पर सम्मिलित होते हैं और आपस में सहयोग करते हैं। परिवार एक मूल इकाई के रूप में सर्व व्यापक है यह सभी समाज में और विकास के सभी स्तर में होते हैं। परिवार एक संस्था ही है, लेकिन यह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह शिशु, बूढ़े, और अक्षम सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करती है। भारत में संयुक्त परिवार सामाजिक आधार के रूप में काम करता है। सम्मिलित रहन-सहन, आपसी सहायता और सहयोग की भावना को सुदृढ़ करता है, जो एक स्वस्थ समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है। अपने गुरुजनों के अवलोकन से शिशु संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठकर व्यापक उद्देश्यों के बारे में सोचता है। पारिवारिक वातावरण के प्रारंभिक ढाँचे में व्यक्ति का स्वभाव अपना रूप ग्रहण करता है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन में यह पाया है कि व्यक्ति का मूल स्वभाव शिशु काल के आदि अनुभवों से सुदृढ़ होता है। महात्मा गाँधी, लेनिन और इन्दिरा गाँधी जैसे प्रभावशाली नेताओं की राजनीतिक शैली का विश्लेषण उनके बाल्यकाल के अनुभवों के आधार पर किया गया है। समाजशास्त्रियों द्वारा समाजों में बच्चों के लालनपालन के अध्ययन को उचित महत्व दिया जाता है। व्यक्ति को प्राधिकार की व्यवस्था का प्रथम अनुभव परिवार में ही होता है। आज्ञापालन का आधार और अवज्ञा के परिणाम का ज्ञान परिवार में प्राधिकार युक्त लोगों से होता है। समाजीकरण की इस सामान्य प्रक्रिया के अलावा, राजनीतिक व्यवस्था के बारे में विशेष सूचना परिवार में मिलती है। व्यक्ति को राजनीतिक दृष्टि और विचार के निर्माण में परिवार में राजनीति के विषय में संयोग से या विस्तृत विचार-विमर्श का महत्त्वपूर्ण असर होता है। निर्वाचन व्यवहार के अध्ययनों से परिवार के महत्त्वपूर्ण योगदान का पता चलता है।

व्यापक दृष्टि से, वर्ण, जाति, और धर्म सम्मिलित अस्तित्व का एक दूसरा स्तर है। ये आदिकालीन तत्व व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, फलस्वरूप कुछ संघ इन पर आधारित होते हैं। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया जहाँ एक ओर इन शक्तियों को अंशतः नष्ट करती है, वहीं ऐसे अवसर भी प्रदान करती है जहाँ राजनीतिक और अन्य लाभ के लिए इनका प्रयोग किया जाता है। वर्ण भारतीय समाज में एक महत्त्वपूर्ण संस्था है, जिसके ढाँचे में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। साथ ही, संचार सुविधा, शिक्षा के अधिक अवसर, और प्रजातांत्रिक राजनीति जैसी आधुनिकीकरण की कुछ प्रक्रियाओं से वर्ण समूह अधिक संघटित हुए हैं। धर्म पर भी यह प्रक्रिया लागू होती है, जो सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया के लिए अक्सर महत्त्वपूर्ण होते हैं। आधुनिकीकरण के अनुरक सिद्धान्त (Linear Theory) की मान्यता यह है परिवर्तन की प्रक्रिया की एक साफ सुथरी, सीधी, सुनिश्चित रेखा होती है। इस सिद्धान्त ने यह सुझाव दिया कि आदिकालीन तत्व आधुनिकीकरण प्रक्रिया के फलस्वरूप धीरे-धीरे अपना प्रभाव खो देंगे। विद्वानों में यह सिद्धान्त अब मान्य नहीं रहा। समाज पर आधुनिकीकरण का प्रभाव जटिल है।

संघ के विविध रूप और आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था

व्यक्ति अपनी विशेष आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए कई संघों का निर्माण करता है। संगीत प्रेमी संगीत क्लब के सदस्य हो जाते हैं। जिन्हें खेलकूद पसन्द है वे क्रीडा क्लब बना लेते हैं। जो किसी विशिष्ट विचारधारा को वरीयता देते हैं उनके लिए कुछ राजनीतिक समूहों की सदस्यता अर्थ रखती है।

किसी विशेष व्यवसाय में लगे लोग व्यावसायिक संघ की स्थापना करते हैं। ऐसे समूहों की सूची का कोई अन्त इसलिए नहीं है कि विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताएँ पृथक-पृथक होती हैं। लेकिन इन ऐच्छिक संस्थाओं की यह बात सामान्य है कि स्वेच्छा से ही लोग इसके सदस्य बनते हैं। ऐसी संस्थाओं के सदस्य होने के बाद वे चाहें तो अपनी सदस्यता वापस ले सकते हैं।

राज्य को भी राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक संघ की दृष्टि से देखा जा सकता है। लेकिन राज्य का क्षेत्राधिकार अपने भूभाग में सर्वव्याप्त होता है। उस भूभाग में रहने वाले सभी लोग अनिवार्य रूप से उसके सदस्य होते हैं। उससे बाहर रहना उनकी इच्छा पर निर्भर नहीं है। व्यक्ति एक साथ अनेक संघों का सदस्य हो सकता है लेकिन राज्य की सदस्यता एक मात्र राज्य तक ही सीमित रहती है। राज्य का कार्यक्षेत्र भी व्यापक होता है। संघ का क्षेत्र सीमित रहता है। राज्य विभिन्न संघों के कार्यों में समन्वय स्थापित करता है। राज्य अक्सर एक उच्च संघ की तरह समाज में दूसरे संघों की गतिविधियों का निरीक्षण करता है। अर्नेस्ट बार्कर का मत है कि "जीवन के सामान्य और समाविष्ट आयोजन के अधिकारी के रूप में राज्य का यह एक आवश्यक कार्य है कि विभिन्न संघों का संबंध राज्य के साथ, आपस में और अेनक सदस्यों के अनुकूल बनाये रखें।"

संघ विभिन्न उद्देश्यों के लिए बनाए जा सकते हैं। ये विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं जैसे आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा संबंधी, सांस्कृतिक, मनोरंजन संबंधी और व्यावसायिक। कुछ और संघ राज्य जैसे शक्तिवान तत्वों द्वारा प्रेरित होते है, जिनका काम सामान्य या किसी विशेष विषय पर जनमत संगठित करना होता है। कुछ संघ किसी विशेष विचारधारा से प्रतिबद्ध हो सकते हैं, और अपने विचार के लिए लोगों का समर्थन पाने का प्रयास कर सकते हैं। राजनीतिक दल लोगों का समर्थन पाने के लिए उनके समक्ष अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। फिर, कुछ संघ मुख्यत: कल्याण कार्यक्रम से प्रेरित होते हैं। रेडक्रास, शारीरिक अक्षमता, समाज, अंध निवारण संस्था, पशुओं के प्रति क्रूरता निवारण संस्था आदि कल्याणकारी संगठन के कुछ उदाहरण हैं। समान हितवाले लोग हितसमूह का निर्माण कर सकते हैं। ये संघ सदस्यों के पक्ष में लोकनीति और सरकारी प्रक्रिया को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इसी कार्य के आधार पर इन्हें दबाव समूह की संज्ञा दी जाती है। वस्तुत: सांस्कृतिक, मनोरंजन संबंधी, और कल्याणकारी समूह भी कभी-कभी दबावसमूह की तरह काम करते हैं। राजनीतिक दल का लक्ष्य इससे भिन्न होता है। दल अपने राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर सत्ता प्राप्त करना चाहता है। हित समूह और दबावसमूह का लक्ष्य सीमित होता है। ये किसी विचारधारा को वरीयता दे सकते हैं, और कुछ समूहों में ऐसा होता भी है। लेकिन इस आधार पर सत्ता प्राप्त करना इनका ध्येय नहीं होता। ये अपने सदस्यों के हित में सरकार पर दबाव डालने तक ही अपने कार्य को सीमित रखते हैं। ये विधायिका जैसी राजनीतिक संस्थाओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने का प्रयास कर सकते हैं, पदासीन लोगों पर, जैसे अधिकारी, दबाव डाल सकते हैं। हित समूह और दबावसमूह सरकार में निर्वाचित पद पर बैठना नहीं चाहते। लेकिन निर्णय लेने वाली संस्थाओं में इनके प्रवक्ता पदासीन हो सकते हैं। कुछ समूह अपने कार्य की परिभाषा सरकार पर दबाव डालने के रूप में ही करते हैं। अन्य समूह ऐसे होते हैं जो सरकारी निर्णय पर दबाव डालने के अलावा कुछ दूसरे कार्य भी करते हैं। भारतीय उद्योग एवं वाणिज्य संघ (Federation of Indian Chamber of Commerce and Industry) ऐसी ही व्यापक कार्यों वाली संस्था है।

आधुनिक युग में विशेष प्रयोजन के लिए बने समूहों के महत्व में वृद्धि हुई है और फलस्वरूप इनकी संख्या भी अधिक हुई है। दूर संचार के साधनों के कारण लोगों में संपर्क का दायरा बढ़ गया है। यूनान के नगर राज्य या भारतीय गांवों जैसे सरल समाजों की तरह ये सीमित नहीं हैं। इनमें बहुत से संपर्क किसी विशेष स्थिति या संदर्भ के लिए होते हैं। ये संपर्क संपूर्ण नहीं आंशिक होते हैं। ये आंशिक और अस्थाई संपर्क शहरीकरण की वृद्धि से और अधिक हुए हैं। शिक्षा जैसे परिवर्तन से शहरी लोगों में अपने हित के प्रति अधिक जागरूकता आई है। इससे अपरिचित भी आपस में मिल जाते हैं। आधुनिक युग में लोगों की जिंदगी में अफरा-तफरी बहुत अधिक है जो दिनों-दिन मशीनी होती जा रही है। इस स्थिति में संघ एक दूसरे को प्रभावित करने के अवसर प्रदान करता है। जो लोग एक संघ में सम्मिलित होते हैं उनके हित समान होते हैं, जिस आधार पर वे एक नजदीकी सामाजिक समूह का रूप धारण कर लेते हैं। उनमें एक साथ होने की भावना आ जाती है।

संघ सदस्यों के अनुसार ही काम करते हैं। जब व्यक्ति आधुनिक औद्योगिक समाज में संक्रामित अनुभव करता है, तो संघ उनके लिए आत्म-अभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करता है।

आधुनिक राज्य के बढ़ते हुए क्षेत्र और अधिकार के कारण भी ये मध्यस्थ समूह आवश्यक हो गये हैं। प्रजातंत्रीकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति का महत्व तो बढ़ा है, लेकिन साथ ही वह राज्य के विराट रूप से आतंक महसूस करता है। अपने मूल हित के संदर्भ में संगठित होकर लोग सामूहिक रूप से राज्य का सामना कर सकते हैं। राज्य के हाथ मे सत्ता के केंद्रीकरण में वृद्धि के समक्ष संगठित समूह व्यक्ति के लिए बचाव का काम करते है। संगठित समूह बहुत से हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, और विचारधारात्मक। समूह जब समुच्चय के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के सामने मांग रखते हैं तो वे प्रभावकारी होते हैं। कुछ समुदाय यह सोच सकते है कि समाज में प्रचलित अन्यायों का प्रतिरोध होना चाहिए। इसके लिए एक संगठन का निर्माण लाभकारी हो सकता है। भारत में दलितों का समूह इसका उदाहरण है। इस तरह के समूह, उस समुदाय के हित का ध्यान रखते हैं और उनकी रक्षा अधिक प्रभावकारी रूप से करते हैं। सरकारी निर्णय में ऐसे समूहों की बहुत सी मांगों को समायोजित करना पड़ता है। समूहों का एक और कार्य होता है, सरकार और लोगों के बीच कड़ी की तरह काम करना। आधुनिक प्रजातांत्रिक राज्य समय-समय पर होने वाले चुनाव में लोक सहभागिता के आधार पर ही वैधता सुनिश्चित करते हैं। इस सहभागिता का महत्व समझना लोगों को आवश्यक है। उनमें यह भावना होनी चाहिए कि उनकी सहभागिता प्रभावकारी है। चुनाव की तरह लोक सहभागिता के साधन से सीधे संबद्ध करने की दृष्टि से राज्य एक सुदूर संस्था है। मध्यस्थ समूह व्यक्ति और राज्य के बीच कड़ी का काम करता है। समूह एक ओर लोगों की अभिलाषाओं और मांगों को सरकार तक पहुँचाते हैं और साथ ही लोगों में सरकारी निर्णय को स्पष्ट करते हैं। यह स्पष्टीकरण अभिव्यक्ति की ऐसी भाषा में होते हैं जिससे लोग आसानी से उन निर्णयों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकें।

मध्यस्थ समूह राज्य और सरकार के कार्य के विभिन्न स्तरों के लिए उपयोगी हैं। विभिन्न हितों, कार्यों, मतों, और विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले समूहों के माध्यम से काम करने में राज्य को आसानी होती है। व्यक्ति कई स्तरों पर सम्मिलित होते हैं। किसी विशेष लक्ष्य प्राप्ति के लिए छोटे समूह मिलकर बड़े समूह का निर्माण कर सकते हैं। मजदूर संघ किसी विशेष मजदूर समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी उद्योगों में ऐसे संघ होते हैं और किसी-किसी उद्योग में तो एक से अधिक संघ होते हैं। फिर, कुछ संघ मिलकर बड़ी संस्थाएँ बनाते हैं, जैसे भारतीय राष्ट्रीय मजदूर कांग्रेस, भारतीय मजदूर कांग्रेस, भारतीय मजदूर संघ, हिन्द मजदूर संघ, सेंटर आफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स (सीटू) आदि। इस तरह के कई अखिल भारतीय संघ हैं। फिर, ये बड़े समूह विभिन्न विचारधाराओं में विश्वास रखने वाले राजनीतिक दलों से संबद्ध होते हैं। अखिल भारतीय संघ (एटक) का संबंध भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से है, भारतीय मजदूर कांग्रेस को कांग्रेस पार्टी का समर्थन प्राप्त है, और भारतीय मजदूर संघ भारतीय जनता पार्टी से संबद्ध है। ऐसे सभी समूह किसी न किसी राजनीतिक दल से जुड़े होते हैं। विभिन्न स्तरों पर हितों को इस तरह मिलाने की प्रक्रिया सरकार के लिए सुविधाजनक होती है। अगर समस्त जनसंख्या की अनगिनत माँगें सरकार के समक्ष सीधे प्रस्तुत की जाएं, तो इनके परिमाण मात्र से सरकारी तंत्र का कार्य ठप हो जाएगा। फिर, इन मांगों में विभिन्न स्तरों पर प्रतिस्पर्धा और विरोध रहता है। इसलिए सरकार के सामने प्रस्तुत करने से पहले उन्हें छाँटना आवश्यक हो जाता है। ये महत्त्वपूर्ण कार्य मध्यस्थ समूह ही करते हैं, जिससे सरकारी तंत्र, डेविड ईस्टन के शब्दों में, "अतिभार" (Overload) से बच जाता है निर्णय लेने वाली संस्थाओं तक पहुँचने से पहले मध्यस्थ समूह विभिन्न माँगों की प्रस्तुति के लिए "तैयार करते हैं" (process) और "विरोधों को छाँट लेते हैं" (sorted out)। इस तरह माँग और उनमें आपसी विरोध, संख्या और जटिलता, दोनों दृष्टियों से संचालनीय हो जाते हैं।

इस संबंध में माँगों की अभिव्यक्ति का प्रकार और सरकारी संस्थाओं द्वारा निश्चित की हुई कार्यविधि का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संस्थाओं से ही सरकार संगठित होती है। सरकार की तीन मुख्य शाखाओं के बारे में तो हम जानते ही हैं, विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। इनके विभिन्न कार्य हैं और उन कार्यों के लिए उपयुक्त कार्यविधि निश्चित की गई है। मध्यस्थ समूहों को इन संस्थाओं और उनकी कार्यविधि की पूरी जानकारी होती है,

जिसका ध्यान वे किसी विशेष हित का प्रतिनिधित्व करते समय रखते हैं। विधायिका के सामने जो मांग रखी जाएगी और उसके लिए जो कार्य विधि आवश्यक है, वह न्यायपालिका के समक्ष मांग प्रस्तुत करने से सर्वथा भिन्न होगी। मांगों के "स्वरूप" और "कार्यविधि" की दृष्टि से समूह उन्हें छांटते हैं और यह भी देखते हैं कि वे उपयुक्त हैं या नहीं। यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। वस्तुत: सरकार यह चाहती है कि समूह लोगों को न सिर्फ संस्थाओं और कार्यविधि के बारे में बल्कि उनके औचित्य और मूल्य के बारे में भी सूचना दे और शिक्षित करें।

भारत जैसे विकासशील देश के लिए विभिन्न प्रकार की संस्थाओं की विशेष आवश्यकता है। इस तरह के देशों में प्रजातांत्रिक संस्था अपेक्षाकृत नई है, जिसमें मध्यस्थ समूह लोक सहभागिता को विभिन्न प्रकार से अर्थपूर्ण बनाते हैं। इन सब की चर्चा पहले की जा चुकी है। इन समाजों में विभिन्न प्रकार की असमानताएं भी हैं जो अक्सर चरम स्थिति में होती हैं। आधुनिक प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं द्वारा घोषित "खुली प्रतियोगिता" वस्तुत: असमान प्रतियोगिता सिद्ध होती है। इस स्थिति में समूह और संघ सामाजिक न्याय की प्राप्ति में उपयोगी होते हैं। विकासशील देशों में राज्य कई संघ और ऐच्छिक संस्थाओं को अपने कार्य के अनुपूरक के रूप में देखते हैं। भारत में सरकार सहकारी संस्थाओं का समर्थन करती है और उनकी सहायता भी करती है। वे महत्त्वपूर्ण आर्थिक कार्य करते हैं। चीनी और दूध जैसी चीजों के उत्पादन का वे एक अनिवार्य हिस्सा बन गए हैं।

ये संस्थाएं उस समय समस्या उत्पन्न करती हैं जब ये सत्ता और निष्ठा के स्वतंत्र केंद्र का रूप ले लेती हैं। इसी कारण संघ और ऐच्छिक संस्थाओं के मार्गदर्शन और उन पर नियंत्रण की आवश्यकता पर जोर दिया जाता है। आधुनिक समाज में संघ और समूह द्विविधा की स्थिति में हैं।

निष्ठा की प्रमुखता का प्रश्न

कुछ ही लोग संघ और अन्य मध्यस्थ समूह के सदस्य होते हैं, जिनकी कुछ मांगों का ध्यान ये रखते हैं। सदस्यता की दृष्टि से ये अपूर्ण तो हैं ही, साथ ही उनके हितों का एक हिस्सा ही उनका उत्तरदायित्व होता है। वे लोगों के विशेष समूहों और उनके विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उन्हीं के लिए उत्तरदायी होते हैं। लेकिन बहुत से संघों का संबंध ऐसी निष्ठा और मांगों से होता है जो लोगों की भावना से घनिष्ट रूप से जुड़े होते हैं। ऐसे संघ और समूह भी होते हैं जिनकी निष्ठा वर्ण, धर्म, जनजाति, भाषा, और क्षेत्र पर आधारित होती है। समाज में व्यावसायिक संघ और हित-समूह भी होते हैं। ये निष्ठा प्रधान होते हैं जिनसे लोगों का लगाव होता है। यह लगाव व्यक्ति में प्रारंभ से ही होते हैं और लोग इनसे पूर्ण परिचित होते हैं। संघ और समूह के प्रति निष्ठा में परस्पर विरोध कई स्तरों पर हो सकता है और होता भी है। निष्ठा का द्वंद्व सर्वप्रथम व्यक्ति के अपने स्तर पर होता है। विविध हितों के लिए व्यक्ति कई संघों का सदस्य होता है। एक व्यक्ति एक ही समय में वर्ण पर आधारित संघ, क्षेत्रीय संघ, मनोरंजन संघ, कल्याण संगठन, और विचारधारा आदि का सदस्य हो सकता है। इन विविध निष्ठाओं को व्यक्तिगत स्तर पर तर्कपूर्ण तरीके से व्यवस्थित करना पड़ता है। विभिन्न निष्ठाएं एक दूसरे के विरोधी हो सकती हैं।

संघ और समूह आपस में सम्मिलित होकर बड़े संघ और संगठन बनाते हैं। मजदूर संघों का विभिन्न विचारधाराओं में विश्वास रखने वाली राजनीतिक पार्टियों के साथ जुड़े होने का उदाहरण पहले ही दिया गया है। समूह विभिन्न स्तरों पर काम करते हैं और इनके अपने प्रतिबंध और अपनी विवशताएं होती हैं। एक उद्योग में काम करने वाले मजदूरों के हित की सुरक्षा में लगे मजदूर संघ, ऐसे संगठनों का संघ, और जिन राजनीतिक दल से ये जुड़े होते हैं, इन तीनों स्तरों पर विभिन्न प्रकार के सोचविचार को ध्यान में रखना पड़ता है। संघ और संगठन के क्षेत्र के विस्तार के साथ ही, समस्याओं के महत्व में भी विस्तार होता है। एक दृष्टिकोण से जो तर्कपूर्ण स्थिति मालूम पड़ती है, वह दूसरे स्तर में नहीं भी हो सकती है। विभिन्न स्तरों के कार्यों को एक तर्कपूर्ण दृष्टि से सजाना आसान काम नहीं। कौन सा स्तर मुख्य है और कौन सा गौण? किन स्थितियों को दूसरों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाए? पूर्णतया तर्कसंगत और युक्तिपूर्ण दृष्टिकोण आसान नहीं होता है। संगठनों के इस तरह जुड़ी हुई कड़ी में व्यक्ति, किसे अपनी प्राथमिक निष्ठा प्रदान करे? व्यक्ति की दृष्टि से संगठन का जो स्तर उसके सबसे नजदीक है, वही महत्वपूर्ण है। लेकिन संगठन की दृष्टि में संगठन जिस उच्चतम स्तर से जुड़ा है वही औचित्य प्रदान करता है। इसलिए प्राथमिक निष्ठा का पात्र वही है।

राज्य के प्रति निष्ठा की दृष्टि से इस तरह के द्वंद्व विशेष महत्व के होते हैं। राज्य अपने नागरिकों से अटल निष्ठा की आशा करता है। राज्य के प्रति असीमित निष्ठा इसका आदर्श और सभी प्रकार की निष्ठा इसकी अनुगामी होनी चाहिए। लेकिन ऐसे भी उदाहरण देखने में आते हैं जब अन्य निष्ठाएं अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। भारत में कुछ धार्मिक समूह ऐसे है जो धार्मिक निष्ठा को अधिक महत्व देते हैं। कुछ क्षेत्रीय निष्ठाएं राज्य से श्रेष्ठ होने का दावा करती हैं। कुछ जातीय संघों ने अपना पृथक अस्तित्व कायम करने का प्रयास किया है।

निष्ठा में ये टकराव उन देशों में अधिक दिखाई पड़ते हैं जिन्हें क्लीफोर्ड गर्टज् ने "पुराना समाज और नया राज्य" की संज्ञा दी है। एशिया, अफ्रीका, और लैटिन अमेरिका के जो देश वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वतंत्र हुए हैं, वे बहुत दिनों तक उपनिवेशवादी शासन के अधीन रहे हैं। उपनिवेशिता की अवधि में, सत्ता में सरकार द्वारा जाति, वर्ण, धर्म, और भाषा जैसे समाज में विभाजन के तत्वों को अधिक महत्व दिया गया। यह "फूट डालो और राज्य करो" वाली नीति का ही एक हिस्सा था। उपनिवेशों में इन विभाजक निष्ठाओं पर जोर देने का योजनाबद्ध प्रयास किया गया। एक विदेशी राज्य के लिए किसी प्रकार की स्वाभाविक निष्ठा के अभाव में पृथकतावादी निष्ठा प्रबल हो गई। उपनिवेशवादी शासन ने इन देशों का विकास सतत अपूर्ण रखा और आधुनिकीकरण की शक्तियों का परंपरावादी संस्थाओं पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका। फिर जब लम्बे समय तक चलने वाले राष्ट्रवादी संघर्ष के बाद इन "नए राज्यों" का निर्माण हुआ, तो यही विभाजक तत्व सामने आए। भारत को सांप्रदायिक समस्या का सामना करना पड़ा, और कई दशकों के अविरल विरोध के बावजूद उसका पूर्ण हल नहीं निकल पाया है। राज्य जिन कार्यविधियों और संस्थाओं की सहायता से प्रजातांत्रिक व्यवस्था कायम करना चाहते थे, वह लोगों के लिए अपेक्षाकृत नयी थी। एक तरफ परंपरावादी संस्था के लिए निष्ठा पूर्ण संस्थापित थी, और दूसरी ओर प्रजातंत्र की नई संस्थाएं और कार्यविधि लोगों की निष्ठा की तलाश में थीं। इस प्रक्रिया में अक्सर प्रक्रियाओं ने परंपरावादी निष्ठाओं को और सुनिश्चित किया। स्वतंत्र भारत में चुनाव की राजनीति का कुछ ऐसा ही प्रभाव हुआ।

विभिन्न स्तरों पर काम कर रहे संगठनों की निष्ठा में समन्वय स्थापित करने के लिए राज्य सर्वोच्च स्थिति में होता है। लेकिन निष्ठाओं को उपयुक्त अनुक्रम में रखने का उत्तरदायित्व इन संगठनों के ऊपर भी है।

प्रारंभिक स्तर पर संघों की नई अवधारणा

किसी भी समाज और राज्य के लिए ऐच्छिक संस्थाएं एक संपत्ति मानी जाती हैं। सामाजिक प्रक्रिया के ऐसे कई मूल्यवान क्षेत्र हैं जिनमें ऐसे संघों का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। भारत के सर्वत्र सम्मानित ऐसे कई व्यक्ति हैं जो ऐच्छिक संस्थाओं से जुड़े रहे हैं। इनमें विशिष्ट नाम हैं, महात्मा गांधी, विनोबा भावे, और मदर टेरेसा। राज्य ऐच्छिक संस्थाओं को स्वीकार करने, उनकी शुरूआत करने और सहायता देने के लिए अक्सर बहुत उत्सुक हैं।

भारत में ऐच्छिक संघों का इतिहास 1860 से शुरू होता है, जब गैरकानूनी संस्थाओं को पंजीकृत करने के लिए एक व्यापक कानून बनाया गया। यह कानून था संस्था पंजीकरण अधिनियम 1860। ऐसी संस्थाओं को कानूनी हैसियत देने के लिए दूसरे संविधि बाद में आए : भारतीय ट्रस्ट अधिनियम, सहकारी संस्था अधिनियम, धर्मार्थ और दान संस्था अधिनियम, कम्पनी अधिनियम 1956, और बम्बई धर्मार्थ ट्रस्ट अधिनियम। विस्तृत सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय आन्दोलन के समय ऐच्छिक संस्थाओं ने कई महत्त्वपूर्ण कार्य किए जैसे शिक्षा को प्रोत्साहन, सामाजिक सुधार, दान कार्य इत्यादि। स्वतंत्रता के बाद ऐच्छिक संस्थाओं की संख्या और उनके कार्य क्षेत्र में वृद्धि हुई। इन्होंने सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, लेकिन इनका कार्य प्राय: राज्य के माने हुए क्षेत्र और प्रचलित राजनीतिक पद्धति के अंतर्गत ही था। इनके आकार और कार्य की परिभाषा ब्रिटिश शासन के समय 1860 ई० अधिनियम द्वारा की गई थी। साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीतिक विचारधारा ने और कई संस्थाओं को जन्म दिया। स्वतंत्रता के बाद ऐच्छिक संस्थाओं के संगठन और उनके कार्य भी प्रचलित राजनीतिक प्रक्रिया और विकास के कार्यक्रम में सम्मिलित हो गए। 1970 ई० तक राजनीतिक संस्थाओं और विकास कार्यक्रमों की प्रक्रियाओं को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाने लगा। "वैकल्पिक विकास" की चर्चा होने लगी और प्रारंभिक स्तर पर कुछ नई संस्थाओं का जन्म हुआ। इस प्रसंग के विचारों की चर्चा नीचे की जा रही है।

राज्य और सरकार के बनाने में चाहे जो भी राजनीतिक

प्रक्रिया और संस्था सक्रिय हों, सत्ता संघर्ष का क्रम कुछ ऐसा होता है जिससे संस्था या जनता, किसी का हित नहीं होता। सत्ता की प्राप्ति ही मुख्य उद्देश्य हो जाता है। इस प्रक्रिया में असमान समाज से जो नेतृत्व उभर का आता है, वह अनन्य रूप से समाज के ऊंचे वर्ग का ही होता है। इन सामान्य प्रक्रियाओं के अलावा, कांग्रेस पार्टी जैसी संस्थाओं के क्रमिक क्षय से भी वर्तमान भारतीय राजनीति से मोहभंग हुआ। विकास की प्रक्रिया और कार्यक्रम को असमानताओं को बनाए रखने के रूप में देखा गया, उन्हें घटाने की दिशा में नहीं। विकास का प्रचलित प्रतिमान पुरानी समस्याओं को हल करने के क्रम में नई समस्याओं को जन्म देता है, जिससे सामाजिक और आर्थिक कल्याण को खतरा हो जाता है। वस्तुतः वर्तमान राजनीति की प्रकृति और विकास का प्रचलित प्रतिमान एक दूसरे को सुदृढ़ करते हैं। इस तरह "राजनीतिक पद्धति" का अर्थ है *असमान सामाजिक समूहों में सत्ता के लिए संघर्ष।* और "विकास की पद्धति" का अर्थ है समाज के उच्च वर्ग के नेतृत्व में विकास के कार्यक्रम। इन दोनों के बारे में लगातार संदेह व्यक्त किया गया है।

"राजनीतिक पद्धति" की और "विकास की पद्धति" की आलोचना की पृष्ठभूमि में कुछ जन-आन्दोलन जनता को व्यापक और विशेष, दोनों प्रकार के विषयों पर संगठित करने की आवश्यकता पर जोर देते हैं। ऐसी बहुत सी संस्थाएं स्वतः प्रवर्तित हैं, और इनका कोई औपचारिक संगठन भी नहीं है। इनका कार्यक्रम कई सवालों पर हो सकता है, जैसे अणुविरोधी शांति आंदोलन, पर्यावरण की रक्षा, कुछ वर्ग विशेष जैसे नारी के लिए आवश्यक अधिकार। उत्तर प्रदेश के पहाड़ों में चलाया गया "चिपको आंदोलन" इसका एक अच्छा उदाहरण है, जिसका मुख्य उद्देश्य है पहाड़ों पर पेड़ों को काटने से बचाना और पारिस्थितिकीय संतुलन (Ecological Balance) बनाये रखना। ये संघ इस अर्थ में भिन्न हैं कि ये सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने का प्रयास तो करते हैं, लेकिन सत्ता के पद के लिए प्रतियोगिता में शामिल नहीं होते। ये "सत्ता के संघर्ष" के बाहर हैं। शांति आंदोलन, नारी आंदोलन, और पारिस्थिकीय संतुलन आंदोलन समूह के अलावा एक और क्षेत्र जिसमें इस तरह के आंदोलन प्रमुख रहे हैं, वह है मानव अधिकार की सुरक्षा।

> महिलाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले किसी एक भारतीय संगठन का पता लगाइये। यह भी पता लगाइये कि पिछले कुछ वर्षों में उन्होंने कौन से मुद्दे उठाए हैं।

ये वैकल्पिक दृष्टिकोण गरीबी जैसी सामाजिक समस्या को समाज में अंतर्निहित कारणों की दृष्टि से देखते हैं। इसलिए विकास के वावजूद, ऐसा हो सकता है कि गरीबी में कोई कमी न हो पाए। वस्तुतः ऐसा देखने में आया है विकास और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ गरीबी और अधिक हो गई है। इसलिए दलित, जनजाति, गरीब, नारी, [illegible] के प्रति आशंकित समूह जैसे "लक्ष्य समूह" को सम्मिलित कारवाई के लिए संगठित किया जाए। ये वैकल्पिक संगठन सतत नई समस्या प्रकाश में लाते हैं और नए समूहों को कारवाई के लिए संगठित करते हैं। लक्ष्य, संगठन और कार्य इन सभी दृष्टियों से ये संगठन भिन्न हैं।

कुछ करने को

आपने अपने विद्यालय, कस्बे या नगर में कार्यरत भिन्न-भिन्न संघों जैसे अध्यापक-संघ, जाति-संघ इत्यादि के बारे में अवश्य सुना होगा। अपने अध्यापक की सहायता से एक ऐसे संघ का अध्ययन कीजिए। संघ का अध्ययन करते समय निम्नलिखित बातों पर विचार कीजिए:

(क) इसका किसी राजनीतिक दल से सम्बन्ध।

(ख) इस संघ के लक्ष्य और उद्देश्य।

(ग) इस संघ की गतिविधियाँ तथा यह संघ किस प्रकार के कार्य करता है?

(घ) यदि अध्यापक-संघ का अध्ययन करें तो इस संघ ने हाल ही में अध्यापकों की सेवा शर्तों जैसे मुख्य मुद्दों पर किस प्रकार कार्य किया। इन मुद्दों का अनुसरण करते समय इस बात का भी अध्ययन करें कि इस संघ ने किन पद्धतियों का प्रयोग किया तथा यह संघ किसी सीमा तक अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल हुआ।

अभ्यास

1. समुदाय और संघ में भेद कीजिए।
   समुदाय कब और किस प्रकार एक संघ के रूप में कार्य करता है?
2. आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए तथा राजनीतिक दलों से उनका भेद स्पष्ट कीजिए।
3. विकासशील समाज में ऐच्छिक संघों के महत्व का वर्णन कीजिए।
4. संघ की परिभाषा कीजिए और राज्य तथा अन्य संघों में भेद बताइये।
5. पाँच विभिन्न प्रकार के संघ बताइये और सामाजिक जीवन में उनकी भूमिका का वर्णन कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) अर्ध-समूह
   (ख) परिवार के मुख्य कार्य
   (ग) प्रारम्भिक स्तर पर संघ
   (घ) निष्ठाओं में संघर्ष।

अध्याय 4

राज्य और सरकार

राज्य अपने भूभाग और जनता के ऊपर संप्रभुता से संपन्न होता है। अपनी इस सत्ता का उपयोग सरकार के द्वारा प्रभावकारी ढंग से किया जाता है। सरकार राज्य की ही प्रतिनिधि है। विद्वानों ने सरकार के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा की है और इनमें से अनेक रूप विभिन्न देशों द्वारा अपनाए भी गए हैं। सरकार के स्वरूप का सही वर्णन उस देश के संविधान में होता है। संविधानवाद का विचार सरकार द्वारा सत्ता के उपयोग के लिये संगठन को ब्यौरेवार तैयार करने का तरीका बताता है और साथ ही नागरिकों की स्वतंत्रता भी सुनिश्चित करता है।

राजनीतिक प्रक्रिया की व्यापक परिभाषा ने एक नये शब्द, राजनीतिक व्यवस्था, को प्रवर्तित किया है। इसमें सरकारी संगठन और राजनीतिक प्रक्रिया की संस्थाओं के आपसी संबंधों का समन्वय किया गया है। राज्य, सरकार और राजनीतिक व्यवस्था, ये तीनों शब्द संस्थाओं के कार्य के विभिन्न स्तरों की ओर संकेत करते हैं। इन नए शब्दों के प्रयोग से राजनीति के विद्वानों का यह प्रयास रहा है कि राजनीति के सार का पता लगाएं और इसकी परिभाषा को और व्यापक बनाएं। इस सिलसिले में मानव ज्ञान की दूसरी शाखाओं की सूक्ष्मदृष्टि से राजनीति विज्ञान लाभान्वित हुआ है।

राज्य और सरकार

राज्य और सरकार प्रायः समानार्थक रूप से प्रयोग किये जाते हैं। राज्य सामाजिक संबंधों और संस्थाओं की व्यापक आकृति का प्रतिनिधित्व करता है, और सरकार उसका एक अंग है। हमने ऊपर राज्य के लक्षणों की चर्चा की है, जिसमें भूभाग और जनता भी शामिल हैं। राज्य अपनी संप्रभुता का इन्हीं के संदर्भ में प्रयोग करता है। राज्य का मार्क्सवादी विचार संप्रभुता का प्रयोग वर्ग स्वरूप के आधार पर करता है। इस अवधारणा के दूसरे तत्व हैं राज्य पर किन सामाजिक वर्गों का अधिकार है, उनका स्वरूप क्या है और वे किनके हित में कार्य करते हैं। राज्य की अवधारणा इन संबंधों की चर्चा अमूर्त रूप से करती है। लेकिन अपनी संप्रभुता और सत्ता के उपयोग के लिये यह आवश्यक होता है कि राज्य सत्ता के प्रत्यक्ष संबंधों और संस्थाओं के द्वारा अपने को प्रगट करे। संप्रभुता की परिभाषा इस आधार पर करनी पड़ेगी कि "किसको, किस प्रकार की सत्ता किसके ऊपर उपयोग के लिए होनी चाहिए।" इस तरह राज्य मूर्त रूप में हमारे सामने आ जाता है। राज्य के इसी मूर्त एवं प्रत्यक्ष पक्ष का प्रतिनिधित्व सरकार करती है। राज्य लोगों को अपने अस्तित्व का अनुभव सरकार के द्वारा ही करवाता है। सरकार राज्य के कार्य करने का एक उपकरण है। इसका संगठन ऐसे सरकारी पदाधिकारियों के द्वारा होता है जिनका अधिकार क्षेत्र कानूनी ढंग से परिभाषित होता है और जिनके क्रियाकलाप की प्रक्रिया सुनिश्चित होती है। सरकार के आधुनिक स्वरूप में सत्ता और प्रक्रिया की इस परिभाषा को महत्वपूर्ण माना जाता है, इसकी चर्चा हम नीचे करेंगे। विभिन्न संस्थाएं, पदों पर आसीन व्यक्ति, संस्थाओं का संगठन और सत्ता के उपयोग की विधि से ही सरकार की रचना होती है। ऐसा संभव है कि दो राज्यों के लक्षण समान हों, लेकिन सरकार स्वरुप भिन्न हो। सरकारी संस्थाओं के एक ही नाम हो सकते हैं, लेकिन उनकी सत्ता और कार्य की परिभाषा

पूर्ण रूप से भिन्न हो सकती है। सरकार की परिभाषा यह भी निर्धारित करती है कि पदों पर लोगों का निर्वाचन या चयन किस प्रकार हो, और वे कितनी अवधि तक पदासीन रहें। इस तरह भारत में हर पांचवे वर्ष आम चुनाव होते हैं और हर चुनाव के बाद सरकार बनती है। यह सर्वथा संभव है कि एक ही राज्य के अंतर्गत विभिन्न दलों की सरकार सत्ता में आए। संस्थाओं में भी फेरबदल किए जा सकते हैं। परंतु ये परिवर्तन संविधान में संशोधन द्वारा ही किए जा सकते हैं। दूसरी ओर, राज्य के स्वरूप में परिवर्तन अधिक कठिन है। यह कार्य क्रांति द्वारा संभव है, जिस तरह रूस में 1917 में और चीन में 1949 में हुआ। क्रमिक विकास द्वारा भी राज्य में परिवर्तन संभव है, जैसे ब्रिटेन में हुआ। कुछ नये राज्यों की स्थापना विदेशी सरकार को शांतिपूर्ण तरीके से सत्ताच्युत करके की जा सकती है, जैसे 1947 में भारत में हुआ। राज्य के स्वरूप के इस तरह के परिवर्तन के साथ सरकार के स्वरूप में भी परिवर्तन होता है। जब एक नए राज्य की स्थापना होती है तो वह राज्य के स्वरूप की परिभाषा अपनी प्राथमिकताओं के आधार पर करता है। एक बार परिभाषित करने के बाद भी इनमें परिवर्तन किया जा सकता है। इस तरह राज्य सरकार का पूर्ववर्ती है। सरकार के स्वरूप में परिवर्तन राज्य की अपेक्षा आसान है और ऐसा बार-बार हो सकता है। अतः सरकार की अपेक्षा राज्य में अधिक स्थायित्व है।

राज्य की संप्रभुता का अर्थ असीम सत्ता होता है, लेकिन सरकार कानून द्वारा निर्धारित सीमा के अंतर्गत ही सत्ता का उपयोग कर सकती है। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका जैसी सरकारी संस्थाओं के अधिकारों और कार्यों को संविधान द्वारा परिभाषित किया जाता है। इसी तरह विभिन्न पदों पर आसीन व्यक्तियों की क्षमता का क्षेत्र भी सीमित होता है। जहां एक ओर नागरिकों द्वारा राज्य के विरोध को "राजद्रोह" की संज्ञा दी जाती है, वहाँ दूसरी ओर विरोधी दल एक स्वस्थ प्रजातांत्रिक सरकार का अभिन्न अंग माना जाता है।

राज्य और सरकार अपने कार्य के सिलसिले में प्रायः एक से मालूम पड़ते हैं । फिर भी इन दोनों में प्रभेद आवश्यक और उपयोगी है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जो एक नया शब्द प्रयोग में आया है, वह है राजनीतिक व्यवस्था। इसमें राज्य और सरकार की अवधारणा निहित है। यह इनके क्रियाकलापों और अनेक तत्वों की परस्पर निर्भरता की ओर इशारा करता है।

राजनीतिक व्यवस्था

राजनीति विज्ञान के विद्वानों में अध्ययन क्षेत्र को औपचारिक और कानूनी संस्थाओं तक ही सीमित करने के बारे में बेचैनी रही है। यह धारणा बलवती होती जा रही है कि इन संस्थाओं के निर्माण में सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं जैसे विभिन्न तत्वों का संयुक्त प्रभाव होता है। इसलिए राजनीतिक प्रक्रिया पर बल दिया जाना चाहिए। जिसमें इन तत्वों के जटिल पारस्परिक प्रभाव का पूर्ण ध्यान रखा जाए। इससे राजनीति विज्ञान के अध्ययन को कानूनी और सांविधानिक संस्थाओं तक ही सीमित न रखकर राजनीतिक "प्रक्रिया जहाँ कही भी है" का समावेश किया गया है। इसी बीच सामाजिक — आर्थिक समूहों और विभिन्न क्षेत्रों के राजनीतिक संस्थाओं के कार्यों का ब्यौरा विश्लेषण का मुख्य विषय बन गया है। आनुभविक अध्ययनों द्वारा कार्यों के विशेष क्षेत्रों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। डब्ल्यू.जे.एम. मेकेन्जी के शब्दों में अब यह आवश्यक हो गया है कि सर्वाच्छादन सिद्धांत (Overarching Theory) का प्रतिपादन किया जाए, जिसमें विभिन्न निष्कर्षों और जटिलताओं को विश्वसनीय ढंग से समाविष्ट किया जा सके। सामान्य व्यवस्था सिद्धांत (General Systems Theory) भी इसी प्रकार का ढांचा प्रस्तुत करता है।

व्यवस्था सिद्धांत का संबंध आस्ट्रीया के जीवविज्ञानी, लुडविग बॉन बर्टालनफलाई की कृति से है। यह सिद्धांत विज्ञान को संकीर्ण वर्गों में विभक्त करने के प्रतिवाद के रूप में उभरा और इसने विज्ञानों के एकीकरण पर बल दिया। उपयुक्त अवधारणा और व्यवस्था सिद्धांत की भी चर्चा की गई। यह आंदोलन अपने विस्तार में सिर्फ जीवविज्ञान की अंतर्दृष्टि से ही समृद्ध नहीं हुआ। इसमें मानव ज्ञान की जिन शाखाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा वे हैं, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, गणित और विद्युत प्रौद्योगिकी। अगर हम मात्र रूपरेखा की चर्चा करें, तो व्यवस्था उपागम में यह सुझाया गया है कि पदार्थ और विभिन्न तत्वों के बीच सतत संबंध बना रहता है। इन संबंधों की एक सुनिश्चित आकृति (ढांचा) होती है और ये एक विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं। इस तरह पारस्परिक संबंध के तीन पक्ष हैं, (अ) तत्वों की पहचान, (ब) संबंधों के ढाँचे की रूपरेखा, और (स) उन तत्वों के ढाँचे की विशेष प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन।

राजनीति विज्ञान में व्यवस्था सिद्धांत के प्रयोग से तीन उपागम प्रगट हुए: (अ) संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण (ब) निवेश निर्गमन विश्लेषण (Input-Output Analysis) और (स) संचारण उपागम (Communications Approach)। ब्रिटेन के मानवशास्त्री ब्रोनीसला मेलीनोवस्ली और ए. आर. रेडक्लिफ ब्राउन, से आरंभ होकर, संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम राजनीतिशास्त्र में अमरीकी समाजशास्त्री मेरिओन लेवी, टालकॉट पारसन और राबर्ट के मार्टन की कृतियों द्वारा समृद्ध हुआ। ग्रेबीयल आलमंड द्वारा इस उपागम का उपयोग राजनीति विज्ञान में किया गया। जैसा कि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है, इस उपागम के दो मुख्य सूत्र हैं — संरचना और कार्य। "कौन सी संरचना किन अवस्थाओं में कौन से मूल कार्य संपादित करती है," यही इस विश्लेषण की मुख्य विषय वस्तु है। आलोचनाओं के बावजूद, राजनीति विज्ञान में यह एक महत्वपूर्ण उपागम है। डेविड ईस्टन का निवेश निर्गमन विश्लेषण का मुख्य प्रेरणा श्रोत पारसन्स का लेखन ही रहा है। तथापि यह राजनीति तथ्यों के विश्लेषण का सबसे विस्तृत "व्यवस्था निष्पादन" है। विभिन्न दबावों के अंदर राजनीतिक निर्णय लेने की प्रक्रिया और सरकारी प्राधिकार के आधार पर लोगों से उन्हें मनवाना, इस उपागम में विश्लेषण का मुख्य विषय है। समाज में "मूल्यों का आधिकारिक विनियोजन" राजनीतिक प्रक्रिया कहलाता है। राजनीति विज्ञान में आधुनिक उपागमों के विकासक्रम में डेविड ईस्टन का एक प्रमुख स्थान है। राजनीति विज्ञान में संचारण उपागम का संबंध कार्ल डब्ल्यू. डायच की कृतियों से रहा है। यह उपागम सरकार द्वारा निर्णय लेने की वास्तविक प्रक्रिया का विश्लेषण सूचना-प्रवाह को मूल इकाई मानकर करता है। विभिन्न उपागमों और समाज शास्त्रीयों की कृतियों के आधार पर राजनीति व्यवस्था की अवधारणा के मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं:

(अ) राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न घटक एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और कोई भी घटक पृथक रूप से कार्य नहीं करता। व्यवस्था के किसी भी भाग में हुए परिवर्तन का प्रभाव दूसरे भागों पर और अंत मे व्यवस्था पर पड़ता है।

(ब) विभिन्न घटक एक-दूसरे से संबंद्ध तो होते ही हैं, लेकिन अपने आप में भी एक व्यवस्था का रूप ले लेते हैं। इस तरह "व्यवस्था" और "उप-व्यवस्था" की कल्पना की जाती है। इन सीमाओं को अंकित करना और सीमा-पार के विनिमत, ये विश्लेषण के मुख्य विषय हैं। आओ भारतीय राज्य को एक राजनीतिक व्यवस्था मान कर इस उपागम को स्पष्ट रूप से समझें।

एक व्यवस्था के रूप में भारतीय राज्य और इसकी उप-व्यवस्थाएँ

आज के विश्व में सभी देश एक दूसरे पर निर्भर हैं तथा सर्वथा पृथक अस्तित्व नहीं बनाए रख सकते हैं। भारत राष्ट्रों की एक बड़ी व्यवस्था का सदस्य है। वस्तुतः यह इस तरह की कई व्यवस्थाओं का भाग है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य है और इस पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक, जैसी एजेंसिओं का प्रभाव हर समय संभव है। भारत राष्ट्र मंडल (Commonwealth of Nations), दक्षिण एशिया क्षेत्रीय संगठन (SAARC) और गुट निरपेक्षता आन्दोलन, जैसे अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संघों से भी जुड़ा हुआ है। इन संगठनों का सदस्य होने के नाते, भारतीय राज्य को इनकी नीतियों और उद्घोषणाओं को ध्यान में रखना पड़ता है। इन सामूहिक अभिकरणों (एजेंसियों) के अतिरिक्त, अन्य देशों से द्विपक्षीय और बहु-पक्षीय आधार पर भी भारत के संबंध अन्य देशों से हैं। इस तरह भारतीय राज्य अंतर्राष्ट्रीय संघों के विभिन्न स्तरों से जुड़ा है, जिसकी कई परतें हैं और जिसमें विभिन्न प्रकार के संबंध निहित हैं। अपनी नीतियों को मूर्त रूप देते समय इसे जटिल अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को ध्यान में रखना पड़ता है। भारत जैसे तृतीय विश्व के देशों की नीतियों पर बहुधा अंतर्राष्ट्रीय ऐजेसिंयों का और अन्य राष्ट्रों का प्रभाव पड़ता है।

भारतीय राज्य विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और इनसे भी अधिक राजनीतिक उपव्यवस्थाओं से संगठित है। इनमें सभी की अपनी, अपनी विशेषताएं हैं। अर्थव्यवस्था के अंदर कृषि और उद्योग जैसे कई क्षेत्र हैं और इनके कई पहलू और प्रक्रियाएं होती हैं। राज्य इन प्रक्रियाओं पर नियंत्रण रखने का प्रयास तो करता है, लेकिन ये राज्य के कार्यों के लिये बहुधा महत्त्वपूर्ण प्रतिबंध सिद्ध होते हैं। इस तरह का प्रभाव उप-व्यवस्थाओं के आपसी संबंधों में भी देखने में आता है। आर्थिक तत्व सामाजिक तत्वों को प्रभावित करते हैं और साथ ही उससे प्रभावित भी होते हैं। आर्थिक क्षेत्र में हुए परिवर्तन, राजनीतिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण होते हैं। हरित क्रांति से अन्न के उत्पादन में वृद्धि के साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में एक

वर्ग का उदय हुआ, जिसका सीधा प्रभाव राजनीतिक शक्तियों के संतुलन पर पड़ा। विभिन्न शक्तियों के पारस्परिक प्रभाव के इस तरह के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत अनेक उपव्यवस्थाएँ आ जाती हैं। इनमें कुछ हैं - संविधान, संसद, मंत्रिमण्डल, उच्च न्यायालय, राजनीतिक दल, अधिकारी वर्ग, चुनाव व्यवस्था, आदि। इन सबकी अपनी अलग कार्य प्रणाली है और साथ ही ये एक दूसरे से जुड़े हुए भी हैं।

अनेक दबावों और प्रतिबंधों के बीच और अनेक स्तरों पर कार्यरत संस्थाओं और प्रक्रियाओं की भूलभुलैयों में भारतीय राज्य का विश्लेषण सचमुच जटिल है। राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा इन विभिन्न तत्वों के विश्लेषण को साफ सुथरे वैचारिक रूप के स्तरों में सजाने में मदद करती है।

सामाजिक-उपव्यवस्था तथा आर्थिक-उपव्यवस्था से भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाला एक-एक उदाहरण दीजिए।

संविधानवाद और संविधान

संविधानवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मूल स्तंभ रहा है। राज्य और सरकार के क्षेत्र को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने में इसका ध्येय यह रहा है कि सत्ता और उसके उपयोग को सीमित किया जाए। राज्य को समाज की संगठित सत्ता का प्रतीक और सरकार को राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अनिवार्य और उपयोगी अंग माना गया है। लेकिन हर समय यह चेतना रही है कि सत्ता सीमित होनी चाहिए और उस पर नियंत्रण आवश्यक है। प्राकृतिक विधि के सिद्धांत (Natural Law) द्वारा राज्य सत्ता पर रोक लगाने पर बल दिया गया है जिससे इस विचार में गति आई है। साथ ही, व्यक्ति की स्वतंत्रता को एक मूल्यवान अवधारणा माना गया है। संविधानवाद ने राज्य सत्ता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता में सामंजस्य स्थापित करने के लिये राज्य को संगठित करने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया तथा इसका अर्थ सत्ता का विभाजन और उसके उपयोग में प्रतिरोध है। यह विचार रखा गया कि अगर राज्य का स्वरूप, उसकी संस्थाएं, और कार्यविधि किसी व्यापक विधि के अंतर्गत हों तो राज्य सत्ता स्वयं ही उन विधियों द्वारा सीमित हो जाएगी। चर्च और राज्य के बीच संघर्ष से शुरू होकर, राजा और सामंतवाद के बीच संघर्ष, विभिन्न क्रांतियों (फ्रांस, अमेरिका और सोवियत संघ), तृतीय विश्व के देशों में उपनिवेश शासन की समाप्ति तक, संविधानवाद की अवधारणा की जड़ें गहरी हो गईं। आधुनिक राज्यों के लिए एक संविधान का निर्माण स्वाभाविक हो गया है।

संविधान ऐसे विश्वास की अभिव्यक्ति है जिसमें लोगों की राज्य से आशाएं और भविष्य के लिये उनकी वचनबद्धता सम्मिलित होती है। मानव अधिकारों के 1789 ई० के घोषणा पत्र ने केवल फ्रांस का ही नहीं, उस समय के सभी देशों के संविधानों का मार्ग दर्शन किया है। भारतीय संविधान अपनी प्रस्तावना में घोषणा करता है कि वह एक "संप्रभुता संपन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्रीय गणराज्य" है, जो ऐसे ही विश्वास के सिध्दांत की अभिव्यक्ति है। राज्य के नीति निर्देशक सिध्दांत भी ऐसी भावना को व्यक्त करते हैं। संविधान निर्माताओं के एक महत्वपूर्ण दस्तावेज तैयार करते समय की कल्पनाशक्ति की रूपरेखा संविधान में देखने को मिलती है। राज्य के दार्शनिक और वैचारिक ढांचा की स्पष्ट अभिव्यक्ति संविधान में होती है। भारतीय संविधान जब यह कहता है कि उसका अभिप्राय सभी नागरिकों के लिये न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व सुनिश्चित करना है, तो लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है। प्रश्न यह है कि इन संकल्पों और दार्शनिक अभिव्यक्तियों को मूर्त रूप कैसे दिया जाय। संथाओं के ढांचे और उनकी कार्यविधि के विस्तार के द्वारा इन्हें सुनिश्चित करने का प्रयास किया जाता है। भारतीय संविधान के संदर्भ में, लक्ष्यों को प्राप्त करने के कुछ साधन वयस्क मताधिकार, समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार और सांविधानिक उपचारों के अधिकार हैं। इस तरह संविधान नागरिकों के लिये कुछ अधिकार सुनिश्चित करता है, और साथ ही उनके कर्तव्य भी निर्धारित करता है। भारतीय संविधान के तीसरे भाग में मूलाधिकारों का व्यापक वर्णन किया गया और बयालिसवें संविधान संशोधन ने मूल कर्तव्यों की व्यवस्था की है। सरकारी तंत्र के अधिकार-क्षेत्र की भी परिभाषा की गई है। संविधान में राज्य और लोगों के आपसी संबंध को परिभाषित किया गया है। एक दूसरे से क्या अपेक्षा की जाए, इसका भी पता चलता है। आधुनिक प्रजातंत्रीय संस्थाओं का प्रयास एक उत्तरदायी सरकार को व्यवस्थित करना है। चुनाव

व्यवस्था, विधायिका के कार्य, न्यायपालिका का संगठन, इन सब का लक्ष्य यही होता है। संविधान द्वारा राज्य सत्ता पर नियंत्रण रखने के साथ एक न्यायसंगत राज्य की स्थापना का भी प्रयास किया जाता है। राज्य का संगठन और उसके कार्य की परिभाषा इस तरह की जाती है कि न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति हो।

जिन महत्त्वपूर्ण लक्ष्यों की चर्चा पहले की गई है उनकी प्राप्ति संविधान में दिए गए संगठन पर निर्भर करती है। हमने पहले देखा है कि सरकारी ढाँचे के माध्यम से ही राज्य अपनी सत्ता का उपयोग करता है। विभिन्न सरकारी संगठन सभी लक्ष्यों की प्राप्ति का माध्यम हैं। सरकार की कौन सी संस्थाएं उपयुक्त हैं? उनका संगठन कैसे हो? उन्हें कौन से अधिकार दिए जाएं? संविधान इन महत्त्वपूर्ण विषयों से संबद्ध होता है। भारतीय संविधान संघीय ढांचे के अंतर्गत एक संसदात्मक सरकार की व्यवस्था करता है। इसके अनुसार विभिन्न स्तरों की संस्थाओं के अधिकारों और कार्यों का प्रतिवेदन किया गया है। कुछ ऐसे सिद्धांत शासनतंत्र को परिभाषित और नियंत्रित करते हैं। सत्ता के विभाजन का प्रभाव इस बात पर निर्भर है कि उनको कैसा कार्य रूप दिया गया है। संघीय व्यवस्था में सत्ता का विभाजन अधिक जटिल होता है और इसमें संविधान का अधिक महत्व होता है। इसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। संस्थाओं के बीच, जैसे कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका, और विभिन्न स्तरों में जैसे संघीय व्यवस्था में सत्ता के विभाजन की विस्तृत चर्चा संविधान में होती है।

संविधान भविष्य की दृष्टि से दार्शनिक और संगठन संबंधी ढांचे का निर्माण करता है। इसलिए यह एक जीवन्त दस्तावेज़ होता है। संविधान राज्य और सरकार को संगठित करता है, लेकिन उन्हें समाज की परिवर्तशील आर्थिक और राजनीतिक वास्तविकताओं का सामना करना पड़ता है। संस्थाओं में परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं को सम्मिलित करना आवश्यक हो जाता है। परिणामस्वरूप सरकार के सिद्धांत, संगठन, सत्ता और कार्यक्षेत्र में भी परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। सभी जीवंत संविधान संशोधन द्वारा परिवर्तन की कार्यविधि की व्यवस्था करते हैं। संविधान संशोधन आवश्यक भी है और अनिवार्य भी। सरकारी पदों पर आसीन लोगों के स्थान पर दूसरे लोगों की नियुक्तियाँ करना भी आवश्यकता होता है। समाज के विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समूह सत्ता के लिए प्रतियोगी होते हैं और इन प्रतियोगिताओं का नियंत्रण और समाधान सांविधानिक तरीकों से किया जाता है। सभी सरकारी संस्थाओं में कार्यकर्ताओं के नवीनीकरण की आवश्यकता होती है। पदों पर आसीन कुछ लोग सत्ता का दुरुपयोग भी करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को पद से हटाने के लिए सांविधानिक तरीके होते हैं। लोगों को पद से हटाने का एक सामान्य तरीका चुनाव है, और अंतिम तरीका महाभियोग है। संशोधन और अन्य कार्यविधियों के द्वारा शासन में परिवर्तन की व्यवस्था संविधान द्वारा ही की जाती है।

राज्य के वैचारिक आधार और संस्थाओं को निर्णायक वैधता संविधान के द्वारा प्राप्त होती है। इस तरह स्थापित राज्य की संस्थाएं निर्णायक रूप से वैध होती हैं। संविधान राज्य के दार्शनिक और वैचारिक आधार, और संस्था के पद, अधिकार एवं उपलब्धि के लिये लक्ष्य की तर्कसंगत व्यवस्था के बीच की एक कड़ी के रूप में काम करता है।

अधिकतर देशों के संविधान एक दस्तावेज़ की आवश्यकता के संचेतन निर्णय के बाद बने हैं। अमेरिका के संविधान को 1787 में अंतिम रूप दिया गया। सोवियत संघ ने 1918 में अपना प्रथम संविधान बनाया। भारतीय संविधान का निर्माण 9 दिसम्बर 1946 और 26 नवंबर 1949 के बीच संविधान सभा के 308 सदस्यों द्वारा लम्बे विचार विमर्श के बाद हुआ। इन लिखित संविधानों में संस्थाओं और कार्यविधियों की व्यवस्था की गई है। कुछ संविधान दूसरों की अपेक्षा अधिक विस्तृत होते हैं। भारतीय संविधान एक विस्तृत संविधान है। इसके 22 भागों में 395 धाराएं हैं और 9 अनुसूचियां संलग्न हैं। इसकी तुलना में, अमेरिका के संविधान में सिर्फ 7 धाराएं हैं, जिनमें 2 धाराएं बहुत ही छोटी हैं। ब्रिटेन का संविधान अलिखित संविधान का एक पुराना उदाहरण है, जहाँ 1688 की "गौरव पूर्ण क्रांति" से शुरू होकर, संविधान का विकास कई शतकों में शनैः शनैः हुआ। ब्रिटेन के संविधान का कोई एक दस्तावेज नहीं है। सांविधानिक परंपरा (constitutional convention) द्वारा संस्थाओं के कार्यों के पूर्वनिर्णय की श्रृंखला से ही संविधान निर्मित है।

लिखित संविधान की आवश्यकता कई कारणों से होती है। जो राज्य क्रांति जैसे सशक्त परिवर्तन के फलस्वरूप बनते हैं, उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार के इच्छित स्वरूप की ओर नए सिरे से अग्रसर हों। लोगों की

आकांक्षा और नेताओं की दूरदृष्टि का समावेश संविधान में हो जाता है,जैसे अमेरिका, सोवियत रूस, चीन और भारत के संविधानों में हुआ है। यह मात्र संयोग नहीं है कि संघीय सरकारों के लिए जैसे,(अमेरिका, सोवियत संघ, स्विटजरलैंड, कनाडा, भारत आदि) एक लिखित संविधान की आवश्यकता अनुभव हुई। सत्ता का विभाजन संघीय व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण है और यह आवश्यक है कि किसी दस्तावेज़ में विभाजन का विस्तृत वर्णन हो। अमेरिका में प्रारंभिक 13 राज्य सत्ता विभाजन के एक सर्वसम्मत व्यवस्था पर ही सम्मिलित होने के लिए सहमत हुए थे। मतभेद की संभावनाओं के कारण एक दस्तावेज़ की उपयोगिता होती है जो विभिन्न घटकों के अधिकार क्षेत्र की साफ-साफ व्यवस्था करे। भारतीय संविधान का भी वह भाग जिसमें केन्द्र-राज्य संबंधों की चर्चा की गई है, संविधान के इस महत्त्वपूर्ण कार्य का उदाहरण है।

कठोर और लचीला संविधान

संविधान निसंदेह एक राजनीतिक दस्तावेज है। इसका स्वरूप एक विशेष राजनीतिक वातावरण में सुनिश्चित होता है, जिसमें उस समय के विचारों और संस्थाओं के बारे में वरीयता का निश्चित प्रभाव पड़ता है। साथ ही वह शासन के ढांचे और कार्यविधि की व्यवस्था करता है जो भविष्य में भी लागू रहेगा। किसी भी देश की राजनीतिक स्थिति पूर्णतया स्थिर नहीं रहती, इसमें निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। नए सामाजिक और राजनीतिक समूह उभर आते हैं जिनके विचार और मांगें भिन्न होती हैं। परिवर्तन के ये तत्व राजनीतिक प्रक्रिया और संस्थाओं पर अपना प्रभाव डालते हैं और राजनीति की संस्थापित व्यवस्था के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह परिवर्तन के तत्वों के बारे में अपनी प्रतिक्रिया स्पष्ट करे। निरंतर परिवर्तनशील तत्वों के बीच सांविधानिक ढांचा एक स्थायित्व की स्थिति प्रदान करता है। प्रत्येक संविधान के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि संशोधन कार्यविधि के माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन का प्रावधान करे। संविधान की संशोधन प्रक्रिया और उसकी विभिन्न संस्थाओं की प्रकृति से ही यह पता चलता है कि संविधान कठोर है या लचीला। लिखित संविधान की कुछ कठोर होने की निहित प्रवृति होती है, क्योंकि इसमें संशोधन की एक विशेष कार्यविधि का प्रावधान होता है।

ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था विधायिका द्वारा पारित नियमों द्वारा संविधान में परिवर्तन की अनुमति देती है। वह साधारण नियम और संवैधानिक नियम में भेद नहीं करता। ब्रिटेन के संविधान का कोई एक विस्तृत दस्तावेज नहीं है, इसीलिये वहां की सर्वोच्च संस्था विधायिका द्वारा ही परिवर्तन लाये जा सकते यह परिवर्तन लाने की सबसे लचीली व्यवस्था का उदाहरण है। इससे यह लाभ होता है कि राजनीतिक व्यवस्था स्वेच्छा और आसानी से अपने को नये वातावरण और बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेती है। लेकिन यह व्यवस्था ऐसे राष्ट्रों के लिए ही उपयोगी है जहाँ की राजनीतिक परम्पराएँ बहुत समय से कार्यरत हों। ब्रिटेन की द्विदलीय व्यवस्था महत्त्वपूर्ण विषयों पर स्वस्थ वाद-विवाद सुनिश्चित करती है और राजनीतिक नियंत्रण का भी उपयोग करती है। राजनीतिक व्यवस्था में किसी भी प्रबल परिवर्तन का प्रस्ताव आम निर्वाचन के मुख्य विषय के रूप में रखा जाता है और उसका समाधान भी निर्वाचन के माध्यम से ही होता है। ब्रिटेन में राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं को सामाजिक परिवर्तन के अनुकूल बनाने के लिये लम्बा समय मिला है। फलस्वरूप परंपराओं की जड़ें मजबूत हुई हैं और ये द्रुत और प्रबल परिवर्तनों के लिये प्रहरी का काम करती रही हैं।

कार्ल जे. फ्रेडरिक् कठोर संविधान के वर्णन के लिए दृढ़ शब्द पसंद करते हैं। उनका कहना है कि "कठोर का गुणसूचक विशेषण जानबूझकर या संयोगवश, प्रतिवेदन पर प्रतिकूल असर डालता है।" इस प्रकार का संविधान ऐसी संस्थाओं का प्रावधान करता है जो लोगों के राजनीतिक अनुभवों की दृष्टि से अपेक्षाकृत नए होते हैं। सामाजिक संस्थाओं और राजनीतिक प्रक्रियाओं को नई संस्थाओं और व्यवहारों के अनुकूल होने में समय की आवश्यकता होती है। समन्वय की इस अवधि में जल्दी में या बार-बार किए गए परिवर्तन उचित नहीं होते। संविधान संशोधन के लिए विशेष प्राविधान के पक्ष में तर्क देते हुए एलेक्स डी. टाकीयावेली कहते हैं कि इससे "बहुमत की तानाशाही" से बचाव मिलता है। प्रजातंत्रीय व्यवस्था में विधायिका में राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि होते हैं। अनिवार्यतः विधायिका में कुछ दलों के अधिक प्रतिनिधि होते हैं और कुछ अल्पमत में होते हैं। विधायिका में निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाते हैं, जिससे इस बात की सतत् संभावना रहती है कि ऐसे निर्णय अल्पमत के विचार और हित को पूर्ण सुरक्षित नहीं रख पायेंगे। बहुमत दल विधायिका के निर्णय अपने पक्ष

में करवाने में प्रायः सफल रहता है। यह स्थिति संवैधानिक धाराओं में परिवर्तन जैसे महत्त्वपूर्ण निर्णयों के लिए मान्य नहीं हो सकती है। इसी कारण से सामान्य विधि और सांविधानिक विधि में भेद किया जाता है, जिसमें पहली विधि के लिये बहुमत का सामान्य नियम मान्य होता है, लेकिन दूसरे प्रकार की विधि के लिए विशेष प्रावधान किया जाता है। यह कार्यविधि ऐसे समाज के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है जहां परिवर्तन द्रुत गति से हो रहा है और परंम्पराएं निरंतर परिवर्तनशील हैं। जिस समाज में सामाजिक विभाजन विषम हो और विविधताएं अधिक हों, वहां राजनीतिक स्थिति में स्थिरता श्रेयस्कर होती है। विविधता और परिवर्तन की ऐसी परिस्थिति में सांविधानिक संरचना के मूल सिद्धांत पर बल देना अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। एक परिभाषित ढांचे के अंदर संविधान संस्थाओं का प्रावधान करता है। इसमें कुछ प्रावधान मूलभूत होते हैं और कुछ परवर्ती। ऑलीवर क्रामवेल ने राजनीतिक स्थिति के "आधारभूत (fundamental) और "पारिस्थितिक" (circumstantial) पक्षों का प्रभेद बहुत समय पहले किया था। भारतीय संविधान के संदर्भ में यह भेद उस समय प्रकाश में आया जब उच्चतम न्यायलय ने 1973 ई. के केशवानंद भारती के और 1980 के *मिनर्वा मिल्स* केस के निर्णयों में भारतीय संविधान के मूल स्वरूप के सिद्धांत की स्थापना की। इस निर्णय के अनुसार संसद का संशोधन संबंधी अधिकार भारतीय संविधान के मूल स्वरूप में परिवर्तन लाने के लिए नहीं *किया जा सकता। भारतीय संविधान के प्रावधानों के परिवर्तन* के लिए जो विभिन्न कार्यविधियाँ दी गई हैं वे ऊपर दिए गए विधि भेद की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। भारत में सांविधानिक संशोधन तीन प्रकार से किया जा सकता है। कुछ प्रावधानों में संशोधन संसद के दोनों सदनों के सामान्य बहुमत द्वारा किया जा सकता है। धारा 3, 4, 169 और 293(अ) ऐसी धाराएं हैं जिनमें राज्यों का सीमा निर्धारण, उनका नामांकन और राज्य और केंद्र-शासित प्रदेशों में द्वितीय सदन की स्थापना और उनके हटाये जाने की चर्चा की गई है। संविधान के प्रावधानों में अधिकांश ऐसे हैं जिनमें संसद के दो-तिहाई बहुमत द्वारा परिवर्तन किये जा सकते हैं। कुछ और प्रावधान ऐसे भी हैं जिनमें परिवर्तन के लिए दो-तिहाई बहुमत के साथ आधे से अधिक राज्यों की विधायिकाओं का अनुमोदन आवश्यक है। जिन प्रावधानों के लिए यह कार्यविधि आवश्यक है वे हैं:

राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया, केंद्र और राज्य के कार्यपालिका के अधिकार, उच्चतम और अन्य न्यायालय संबंधी प्रावधान, केंद्र और राज्यों के बीच विधायी अधिकारों का विभाजन, संसद के दोनों सदनों में राज्यों का प्रतिनिधित्व और धारा 368 जिसमें संशोधन कार्यविधि का प्रावधान है। केन्द्र व राज्यों के पारस्परिक विधायी संबंधों के अंतर्गत जिस संशोधन की चर्चा की गई है उसके लिये कुछ कड़ी कार्यविधि का अनुसरण इसलिए आवश्यक समझा गया क्योंकि इन प्रावधानों का संबंध केन्द्र और राज्य दोनों से है। इस तरह प्रावधानों के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रावधानों के लिये अलग-अलग संशोधन कार्यविधि दी *गयी है। विभिन्न प्रावधानों के दार्शनिक आधार* भी इस विभिन्न संशोधन प्रक्रिया में लक्षित होते हैं।

अभ्यास

1. राज्य और सरकार में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. राजनीतिक व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? भारतीय राजनीतिक व्यस्था के संदर्भ में इसका वर्णन कीजिए।
3. सांविधानवाद का वर्णन कीजिए तथा इसका महत्त्व बताइए।
4. कठोर संविधान किसे कहते हैं? कठोर तथा लचीले संविधान में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
   (क) राज्य सरकार से अधिक स्थायी है
   (ख) सामान्य विधि एवं सांविधानिक विधि

अध्याय 5

सरकार का स्वरूप

सरकार राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। कई बार राज्य और सरकार में भेद करना कठिन हो जाता है क्योंकि आमतौर पर नागरिक केवल सरकार के संपर्क में ही आते हैं। राज्य एक अमूर्तअवधारणा (Abstract concept) है, जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है। राज्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति सरकारी संस्थाओं और कार्यविधियों के रूप में ही होती है। सरकार के संगठन द्वारा ही सत्ता का प्रयोग होता है। पहले हम राज्य और सरकार के भेद की चर्चा कर चुके हैं। सरकार के कई रूप हो सकते हैं। *विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की* सरकारें होती हैं। सरकार के स्वरूप का वर्गीकरण समझने के लिए सरकार की सत्ता के आधार, उसकी मात्रा और उसके लक्ष्यों को समझना आवश्यक है। सरकार के विभिन्न रूपों, विभिन्न क्रिया-विधियों के द्वारा हम उनकी विभिन्नताओं को सरलतापूर्वक समझ सकते हैं। सरकार की पूर्ण व्याख्या उनके विविध कारकों द्वारा ही हो सकती है, जैसे सरकार का ऐतिहासिक विकास, देश की सामाजिक-आर्थिक अवस्था, अन्य देशों से संबंध,इत्यादि। इस तरह सरकारों का वर्गीकरण उनकी संवैधानिक संस्थाओं तक ही सीमित नहीं होता। इसमें संस्थाओं के वास्तविक कार्यों पर भी विचार किया जाता है। कोई भी वर्गीकरण स्थायी नहीं हो सकता। उस पर बदलती हुई सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है।

वर्गीकरण की समस्याएं

सरकारों और उनकी संस्थाओं को किन वैचारिक इकाइयों की सूची में रखा जाए, यह वर्गीकरण के किसी भी प्रयास में निहित है। इस के दो तरीके हैं — (1) हम राज्य और सरकार के विस्तृत वैचारिक रूप की अवधारणा के आधार पर सरकारों का वर्गीकरण कर सकते हैं। (2) दूसरा तरीका यह है कि विभिन्न सरकारों की व्याख्या करें और यह देखें कि सत्ता के वास्तविक विभाजन और उनके कार्य की दृष्टि से कौन से मुख्य स्वरूप उभर कर आते हैं। अरस्तु का सर्वविदित वर्गीकरण जिसमें 150 संविधानों की व्याख्या के आधार पर सरकार के तीन मुख्य स्वरूपों की व्याख्या की गई है, वर्गीकरण का एक अच्छा उदाहरण है। तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में कुछ आधुनिक अध्ययनों में इसी प्रकार का प्रयास किया गया है। वर्गीकरण का स्वरूप कुछ भी हो, उसके वैचारिक रूप की व्याख्या आवश्यक है। वर्गीकरण में जब किसी एक बात को अन्य बातों की अपेक्षा वरीयता दी जाती है तो अध्ययन के *झुकाव का प्रश्न उठ सकता है* इसका कारण *अध्ययनकर्ता या* सैद्धान्तिक उपागम के सांस्कृतिक या विचारधारा संबंधी पूर्वाग्रह हो सकता है। पूर्णतया वस्तुपरक (Objective) या झुकाव-रहित वर्गीकरण आसान नहीं है। जिन लोगों की अन्य वरीयताएं हैं उनके द्वारा किया गया वर्गीकरण भी अलग होगा। लोकतंत्र को सरकार का एक अच्छा स्वरूप माना गया है, लेकिन इसकी विभिन्न परिभाषाएं दी जाती हैं। अमरीका के विद्वानों द्वारा किये गये सरकार के कुछ वर्गीकरणों में सोवियत संघ को लोकतांत्रिक राज्यों की सूची में शामिल नहीं किया गया। दूसरी दृष्टि से, सोवियत संघ और अन्य सामाजवादी राज्य लोकतंत्र के अच्छे उदाहरण माने जाते हैं। हमने पहले अध्याय में देखा कि वैज्ञानिक प्रणाली मूल्य-मुक्त (Value free) व्याख्या पर बहुत

बल देती है, किन्तु पूर्ण रूप से मूल्य-मुक्त अध्ययन सम्भव नहीं है।

वर्गीकरण की एक समस्या यह भी है कि परिभाषिक शब्दों के अर्थ विभिन्न प्रसंगों और भाषाओं में अलग-अलग होते हैं। संस्थाओं के अर्थ भी अलग हो जाते हैं। अमरीका, फ्रांस, सोवियत संघ और भारत, इन सभी देशों मे राष्ट्रपति पद है। लेकिन इस संस्था का अर्थ सभी देशों में भिन्न-भिन्न है। ब्रिटेन और भारत में नौकरशाही को विभिन्न अर्थों मे समझा जाता है। संसद, प्रधान मंत्री, न्यायपालिका जैसी संस्थाओं के अर्थ भी विभिन्न होते हैं। संविधान मे संस्थाओं को किसी विशेष मान्यताओं और अपेक्षाओं के आधार पर सम्मिलित किया जाता है। लेकिन वास्तविक कार्यप्रणाली में ये संस्थाएं भिन्न हो सकती हैं। संस्थाओं का सांविधानिक स्वरूप और उनके वास्तविक कार्यों में भेद, वर्गीकरण और उनके वास्तविक कार्यों में भेद, वर्गीकरण की एक समस्या है। सिद्धांत और व्यवहार में अंतर हो सकता है।

इस तरह वर्गीकरण की कोई भी रूपरेखा अंतिम और स्थिर नहीं होती। प्रारंभिक वर्गीकरण के बाद, सरकार के प्रत्येक प्रारूप (framework) का वर्णन आवश्यक होता है। सरकार के *लोकतांत्रिक और अलोकतांत्रिक स्वरूपों में विभाजन लोकतंत्र* के वर्णन में सहायक सिद्ध होता है। इसके बाद यह आवश्यक है कि विभिन्न प्रकार के लोकतंत्रों को उनके कार्यों के आधार पर वर्गीकरण किया जाए। सरकार के इस तरह के वर्गीकरण के विभिन्न स्तरों पर अलग-अलग विषयों का विस्तार किया जाता है। सरकार के विभिन्न स्वरूपों को समझने के लिए *वर्गीकरण* महत्त्वपूर्ण है।

राज्य और सरकार का स्वरूप

राज्य और सरकार एक दूसरे से इस तरह जुड़े हैं कि उनकी विशिष्टताओं और लक्ष्यों को समान मान लिया जाता है। जो विशिष्टताएं राजनीतिक प्रक्रिया के मूल सामाजिक-आर्थिक संबंधों की ओर इंगित करती हैं, उनका संबंध मूलतः राज्य से है। एक पूंजीवादी राज्य की विशिष्टता उसके मूल आर्थिक संबंधों में है जैसे व्यक्तिगत संपत्ति, सामाजिक समूहों के हित में राज्य सत्ता का प्रयोग इत्यादि। समाजवादी राज्य की परिभाषा आर्थिक संबंधों और संस्थाओं के पुनर्गठन के रूप में होती हैं। इस व्यवस्था में, *व्यक्तिगत संपत्ति पर नियन्त्रण* होता है। राज्य ही आर्थिक प्रक्रियाओं का संरक्षक होता है। सामाजिक वर्ग और उनके संबंधों का भी पुनर्गठन होता है। लोकतांत्रिक और अलोकतांत्रिक राज्यों का भेद भी इन्हीं मूल अधारों पर होता है, जो राजनीतिक प्रक्रियाओं तक सीमित नहीं रहती। इसका विस्तार सामाजिक संबंधों तक होता है। इसका अर्थ अक्सर उन आदर्शों से होता है जिन्हें राज्य प्राप्त करना चाहते हैं। समाजवाद और लोकतंत्र आधुनिक राज्यों के इसी तरह के आदर्श हैं।
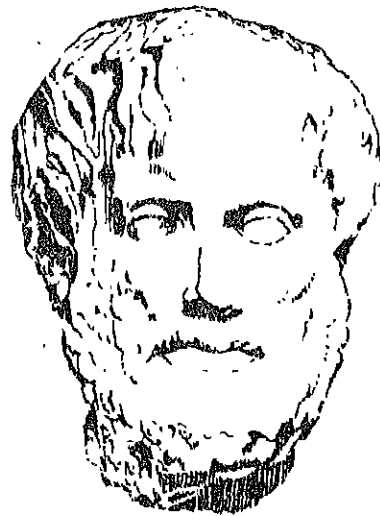
अरस्तु (लगभग 384-322 ई० पू०)

प्रख्यात यूनानी दार्शनिक। सिकन्दर महान का गुरू। राजनीति, दर्शन, विज्ञान तथा चिकित्सा विज्ञान जैसे विषयों पर व्यापक रूप से लिखा। प्रसिद्ध पुस्तकें : "पालिटिक्स" (Politics), "कॉन्सटीट्यूशन्स" (Constitutions).

दूसरी ओर, सरकार का स्वरूप उन संस्थाओं की ओर इंगित करता है जो उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं जो निश्चय ही सामाजिक-आर्थिक तत्वों पर निर्भर करते हैं। यहां संस्थाओं के स्वरूप पर अधिक जोर दिया गया है जिन्हें आवश्यक अधिकार और कार्य दिए जाते हैं।

सरकार का स्वरूप

सरकारों का वर्गीकरण कोई भी हो, यह निर्णय आवश्यक है कि वर्गीकरण किस आधार पर किया जाए। ऐसे प्रयासों की

शुरुआत अरस्तू द्वारा किए गए सरकारों के वर्गीकरण से हुई। जिन 150 संविधानों का विश्लेषण उन्होंने किया उनके वर्गीकरण के लिए दो मापदण्डों के मिश्रण को उपयोगी माना। एक आधार तो यह था कि कितने लोगों के हाथ में सत्ता निहित है। इस तरह राजतंत्र, कुलीनतंत्र और बहुतंत्र में इस आधार पर भेद किया गया कि इन तीनों में क्रमशः एक, कुछ, और बहुत लोगों के हाथ में सत्ता होती है। अरस्तू द्वारा प्रयुक्त दूसरा मापदण्ड यह था कि सत्ता का उपयोग किनके हित में होता है। ऊपर दिए गए सरकार के तीन स्वरूप समाज के हित में कार्य करते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि वे मात्र उन लोगों के हित में कार्य करें जिनके हाथ में सत्ता है, अरस्तू ने ऐसी सरकार को उनका विकृत रूप माना। सरकार के तीन प्रकार के विकृत रूप हैं क्रमशः तानाशाही, वर्गतन्त्र और लोकतंत्र या भीड़तंत्र। अरस्तू ने लोकतंत्र का प्रयोग भीड़तंत्र अथवा सरकार के विकृत स्वरूप को दर्शाने के लिए किया। अरस्तू परिवर्तन के ऐसे चक्र की भी चर्चा करते हैं जिसमें एक विशेष प्रकार की सरकार में विकृति आने के बाद वह दूसरे शुद्ध प्रकार में बदल जाती है। ऐसे परिवर्तन का क्रम निम्न चित्र में दिया है।
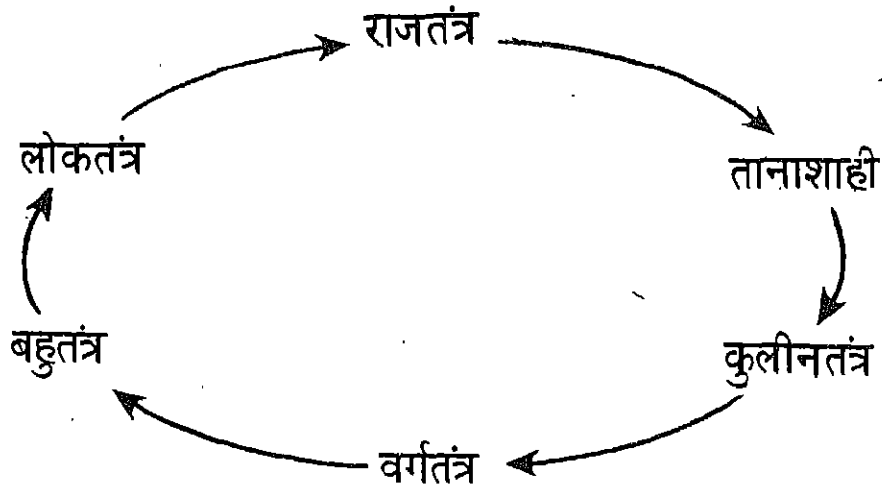
अरस्तू द्वारा सरकारों का वर्गीकरण

लोगों की संख्या जिनके पास सत्ता है	*सामाजिक हित में कार्य*	*विकृत रूप*
एक	राजतंत्र	तानाशाही
कुछ	कुलीनतंत्र	वर्गतंत्र
बहुत	बहुतंत्र	लोकतंत्र या भीड़तंत्र

आधुनिक "राज्य कार्य क्षेत्र व व्यवस्था" और "कार्य की सैद्धांतिक व्याख्या", दोनों ही दृष्टियों से जटिल हैं। वर्गीकरण के आधार भी व्यापक हो गए हैं। कुछ तो सरकार के संगठन तक ही सीमित हैं और अन्य अधिक व्यापक रूप से प्रक्रियाओं को भी सम्मिलित कर लेते हैं। सरकार के संघात्मक और एकात्मक स्वरूपों में भेद सत्ताकेन्द्र की दृष्टि से किया जाता है। जब संपूर्ण क्षेत्र के प्रशासन की सत्ता का एक ही केंद्र होता है, तो उसे एकात्मक सरकार की संज्ञा दी जाती है। ब्रिटेन, फ्रांस, घाना,आइवरी कोस्ट और चिली ऐसी सरकारों के उदाहरण हैं।

संघीय व्यवस्था में क्षेत्र का विभाजन खंडों में किया जा सकता है जिसमें अपनी सरकारों की स्थापना होती है। इस व्यवस्था में एक केंद्रीय सरकार के साथ-साथ कुछ क्षेत्रीय सरकारें भी होती हैं। इस तरह संघीय व्यवस्था में सरकार दो स्तरों पर होती है — एक पूरे क्षेत्र के लिए और दूसरी छोटे-छोटे क्षेत्रों के लिए। भारत में केंद्रीय सरकार और राज्यों की सरकार से हम परिचित हैं। इस प्रकार के द्विस्तरीय सरकार के उदाहरण हैं — अमरीका, सोवियत संघ, स्विट्ज़रलैंड, नाइजीरिया, ब्राज़ील, मलेशिया और भारत।

संसदीय और अध्यक्षीय सरकारों का भेद विधायिका और कार्यपालिका के संबंधों की दृष्टि से किया जाता है। संसदीय व्यवस्था में विधायिका में राजनीतिक दलों के प्रतिनिधित्व के आधार पर कार्यपालिका का संगठन होता है। विधायिका में जिस दल का बहुमत होता है, कार्यपालिका पर भी उसी का नियंत्रण होता है। ब्रिटेन इस पद्धति का उदाहरण हैं। जिन नए देशों में संसदीय सरकार का संगठन हुआ है, वे हैं घाना, इजिप्ट और तंज़ानिया। अध्यक्षीय सरकार में कार्यपालिका और विधायिका एक दूसरे से पृथक होते हैं। अक्सर इन पर अलग-अलग राजनीतिक दलों का नियंत्रण होता है। अमरीका के अतिरिक्त, चिली और ब्राज़ील इस पद्धति के उदाहरण हैं। कुछ और ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें दोनों के लक्षण हैं। भारत और फ्रांस ऐसे उदाहरण हैं जहां राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं।

सरकार के वर्गीकरण में तीसरा प्रभेद लोकतांत्रिक और अलोकतांत्रिक या निरंकुशतावादी सरकारों में किया जाता है। लोकतांत्रिक आदर्शों में निष्ठा होते हुए भी लोकतंत्र की परिभाषा कई प्रकार से की जाती है, जिनमें विभिन्न विचार महत्त्वपूर्ण होते हैं। हम इन विषयों का विस्तृत उल्लेख आगे चल कर करेंगे। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इस प्रसंग में जनता के प्रति सरकार का उत्तरदायित्व महत्त्वपूर्ण मापदण्ड होता है। इस उपागम में इस बात को महत्व दिया जाता है कि सरकार में लोक-सहभागिता (Popular Participation) किस हद तक है। सरकार में जितने अधिक लोगों की जितनी अधिक सहभागिता होगी उसे उतना ही लोकतांत्रिक माना जायेगा।

तालिका

राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण

वर्गीकरण का आधार	*प्रथम प्रकार*	*द्वितीय प्रकार*
1. राज्य का स्वरूप (लक्ष्य, विचार धारा, नीति की दृष्टि से)	पूंजीवादी	समाजवादी
2. सत्ता के प्रयोग का स्वरूप (व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता की दृष्टि से)	लोकतांत्रिक	अलोकतांत्रिक
3. सत्ता का क्षेत्रीय विभाजन	एकात्मक	संघात्मक
4. संविधान का स्वरूप	कठोर-लचीला	लिखित-अलिखित
5. कार्यपालिका का स्वरूप	संसदीय	अध्यक्षीय

विचाधारा के आधार पर भी सरकारों का वर्गीकरण किया जा सकता है जैसे कि समाजवादी, पूंजीवादी, निरंकुशतावादी,- लोकतांत्रिक इत्यादि।

ऊपर दिए गए चार प्रकार के वर्गीकरणों में यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि ये व्यापक वर्ग हैं और उनके कार्यों का निकट से परीक्षण आवश्यक है। सरकार के स्वरूप के चार जोड़ों में कई ऐसे हैं जिनमें आपस में समानता है। दूसरी ध्यान रखने योग्य बात यह है कि किसी भी प्रकार की सरकार किसी सुस्पष्ट और अनन्य वर्ग के अंतर्गत नहीं आती। विभिन्न सरकारों के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनमें अधिकतर मिश्रित हैं जिनमें कई प्रकार की सरकारों के लक्षण होते हैं।

कुछ आधुनिक विद्वान "वर्गीकरण" (classification) के स्थान पर "प्रारूपीकरण" (typology) और राज्य (State) के स्थान पर "*राजनीतिक व्यवस्था*" (*Political System*) *का प्रयोग करते हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि* राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा का संबंध राजनीतिक प्रक्रियाओं से अधिक है। 1960 ई. के बाद दिए गए "राजनीतिक व्यवस्था के प्रारूपीकरण" में सिर्फ सरकारों को ही सम्मिलित नहीं किया गया है, समाज में सत्ता के विभाजन के विभिन्न विषयों को भी सम्मिलित किया गया है। उनका बल सांविधानिक' संगठन के अतिरिक्त संस्थाओं के वास्तविक कार्यों पर भी है। जिन विद्वानों ने इस प्रकार का कार्य किया है उनके कुछ उल्लेखनीय नाम हैं — एडवर्ड शिल्स, रावर्ट ए. डाल, गेब्रीयल ए. आलमण्ड, एस. एन. आईजेंन्डाट और ए. लिज़फार्ट।

वर्गीकरण और तीसरी दुनिया की सरकारें

उरोक्त वर्गीकरण का विकास मूलतः यूरोप और अमरीका जैसे क्षेत्रों के उन समाजों के परिप्रेक्ष्य में हुआ जहाँ राजनीतिक स्थायित्व (Stability) था। यहां सरकारी व्यवस्था का विकास अपनी सुविधा के अनुसार क्रमशः और अधिकतर विकास की अवस्था में हुआ। दूसरे महायुद्ध के उपनिवेशवाद। (colonialism) के अंत के फलस्वरूप एशिया और अफ्रीका के जिन देशों को स्वतंत्रता मिली, उनकी सरकारों को स्पष्ट वर्गों में नहीं रखा जा सकता। इन देशों की मुख्य समस्या यह है कि परिवर्तन की विभिन्न शक्तियां और प्रक्रियाएं एक ही *समय में या बहुत थोड़े समय में सक्रिय हैं। इसको* "अल्पकालिक परिवर्तन" की संज्ञा दी जाती है। ये देश उपनिवेशवादी व्यवस्था का बहुत दिनों तक हिस्सा रहे हैं इसी कारण इन्हें अपने आर्थिक कार्यक्रमों के संपादन में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यहाँ समाज और सरकार में अस्थिरता की स्थिति दिखाई देती है। कभी-कभी ये अस्थिरताएं अन्य देशों और अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों के कारण भी होती हैं। इन्हीं कारणों से इन देशों में सरकार लगातार बदलती रहती है। ऐसे कई उदाहरण हैं जब किसी एक सरकार के स्थायित्व प्राप्त करने से पहले ही बदलाव आ जाता है।

ये नए स्वतंत्र देश उन्हीं देशों के उपनिवेश रहे हैं जहाँ सरकार के उपरोक्त स्वरूपों का क्रमिक विकास हुआ। उपनिवेशवादी देशों की कई संस्थाएँ उपनिवेशों के स्वतंत्र होने के पहले ही अपनी जड़ें जमा चुकी थीं। नव स्वतंत्र देशों में कुछ ऐसे भी थे *जिन्होंने विकसित देशों की कुछ संस्थाओं को अपना लिया। लेकिन जहां इन संस्थाओं को थोपा* (impose)गया, उन देशों की स्थिति भिन्न थी। इसका परिणाम यह हुआ कि संस्थाओं का स्वरूप तो बना रहा, लेकिन कार्य की दृष्टि से उनका वास्तविक अर्थ बदल गया। ऐसे बहुत उदाहरण हैं जिनमें संस्थाओं के पारिभाषिक नाम स्पष्ट रूप से भ्रामक हैं।

वर्गीकरण के दो मापदण्डों के आधार पर, विशेषतः तीसरी दुनिया के देशों के परिप्रेक्ष्य में बल दिया है — (1) सरकार द्वारा प्रमुख आर्थिक नीतियों का अनुसरण,और (2) सरकार पर असैनिक /या सैनिक नेतृत्व का नियंत्रण। पहले मापदण्ड के अनुसार उन देशों में भेद किया जाता है जो विकास का पूंजीवादी रास्ता अपनाते हैं और दूसरे जो समाजवादी रास्ते पर चल रहे हैं। ब्राजील और मैक्सिको पहले प्रकार के उदाहरण हैं, और क्यूबा दूसरे प्रकार का। बहुत से देशों ने मिश्रित नीति को अपनाया है। तीसरी दुनिया के देशों में भेद इस दृष्टि से भी किया जाता है कि कहाँ की शासनप्रणाली असैनिक है और कहां की सैनिक। सैनिक शासन के देशों के उदाहरणों की कमी नहीं है। इनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो बारीबारी से सैनिक और असैनिक शासन के अंदर रहे हैं। तीसरी दुनिया के देशों में सेना की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई है।

> तीसरी दुनिया के उन राष्ट्रों की सूची बनाइए जिनमें सैनिक शासन हैं।

अभ्यास

1. उन कारकों की व्याख्या कीजिए जो किसी भी देश की सरकार के स्वरूप को निर्धारित करते हैं।
2. सरकार के वर्गीकरण में कौन-कौन सी कठिनाइयां हैं?
3. तृतीय विश्व के देशों की सरकारों के स्वरूप में बार-बार परिवर्तन के लिए कौन-कौन से कारक उत्तरदायी हैं? आप तृतीय विश्व के देशों की सरकारों का वर्गीकरण किस प्रकार करेंगे।
4. निम्नलिखित विषयों पर टिप्पणी कीजिए :

   क. सरकार के दो स्वरूप —

   (1) लोकतान्त्रिक तथा (2) निरंकुशतावादी

   ख. वर्गीकरण और प्रारूपीकरण

अध्याय 6

लोकतांत्रिक और अलोकतांत्रिक सरकार

वर्तमान शताब्दी में लोकतंत्र सरकार का एक स्वरूप ही नहीं, बल्कि सर्वमान्य स्वरूप है। आज शायद ही कोई ऐसा देश है जो अपने को अलोकतांत्रिक घोषित करता है। यहाँ तक कि हम लोकतंत्र को ही स्वीकार्य मानते हैं। लेकिन यह ध्यान रखने की बात है कि बहुत से देश बीसवीं शताब्दी में ही लोकतंत्र के आदर्शों को पूर्णतया प्राप्त कर सके हैं — वयस्क मताधिकार का आरंभ जर्मनी में 1919 ई. में, स्वीडन में 1920 ई. में, फ्रांस में 1945 ई. में और ब्रिटेन में 1948 ई. में हुआ। भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में लोकतांत्रिक आदर्श की जड़े स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ही जम चुकी थीं, जो इनकी संस्थाओं में परिलक्षित होती हैं। लोकतत्र शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों "डेमोस" और "क्रेशिया" का संयुक्त रूप है, जिसका अर्थ है लोक प्राधिकार।

सरकार के एक स्वरुप से अधिक, लोकतंत्र रहन-सहन का एक तरीका है। यह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श है जिसका ध्येय मानव के पूर्ण विकास के द्वारा सामाजिक कल्याण की प्राप्ति है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति को अपने क्रियाकलापों के लिए पूर्ण और समान स्वतंत्रता प्राप्त हो और वह अनावश्यक प्रतिबंधों से मुक्त हो। ऐसी स्थिति प्राप्त करने में लोकतंत्र सहायक होता है।

लोकतंत्र का सिद्धांत तीन मुख्य आदर्शों पर आधारित है। इसमें व्यक्ति को महत्वपूर्ण और मूल इकाई माना गया है। व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। सभी व्यक्तियों की योग्यता को उचित महत्व दिया जाता है। किसी भी प्रकार का भेद, यथा वय, जाति, शिक्षा या लिंग के आधार पर, लोकतंत्र के आदर्शों के प्रतिकूल है। व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए सरकार के कार्यों में लोक सहभागिता आवश्यक है। वयस्क मताधिकार सहभागिता का सबसे प्रत्यक्ष रूप है, जिसके द्वारा सरकार बनती है और नेता चुने जाते हैं। लेकिन सहभागिता का अंत यह नहीं है। इसकी पहुंच सरकार द्वारा निर्णय लेने की प्रक्रिया में सहभागिता तक होनी चाहिए। सरकार के संगठन और कार्यों पर लोगों का निरीक्षण और नियंत्रण होना चाहिए। सरकार के प्राधिकार को स्वीकार करने के साथ ही, व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता को सर्वोच्च महत्व दिया जाता है।

सत्ताधारी सरकार लोकतांत्रिक मानदण्डों से रहित होती हैं। सरकार के लोकतांत्रिक और अलोकतांत्रिक स्वरूपों में लोक सहभागिता और लोक उत्तरदायित्व की दृष्टि से भेद किया जाता है। अलोकतांत्रिक सरकारों के लिये जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वे हैं सत्तावादी, अधिनायकवादी और सर्वसत्तात्मक। इन तीनों शब्दों में पाया जाने वाला लक्षण है सत्ता का असीमित उपयोग। जहाँ एक ओर सभी प्रकार की सरकारों को प्राधिकार की आवश्यकता होती है और वे उसका उपयोग भी करती हैं (अर्थात् नागरिकों द्वारा अभ्यासवश आज्ञापालन), सत्तावादी सरकार के पास असीमित सत्ता होती है।

अलोकतांत्रिकता

लोकतांत्रिक और अलोकतांत्रिक सरकारों में भेद उनके लक्ष्य और उन्हें प्राप्त करने के साधन की दृष्टि से किया जा सकता है। सत्तावादी सरकार यह निर्णय लेती है कि व्यक्ति के लिए क्या

अच्छा है? व्यक्ति के पास अधिकार या स्वतंत्रता हो अथवा नहीं? सरकार स्वयं ही निर्णय लेती है कि किन नीतियों का अनुसरण किया जाए। जब राज्य और सरकार के कार्य समग्र व्यक्ति को आच्छादित कर लेते हैं, तब उसे सर्वसत्तात्मक राज्य की संज्ञा दी जाती है। समाज के सभी समूहों और क्रियाकलापों पर केंद्रीय प्राधिकार का नियंत्रण होता है। इस तरह की सरकार लोगों के चिंतन और विचार को भी नियंत्रित करने का प्रयास करती है। सरकार के पास अनियंत्रित सत्ता होती है। इसी तरह के एक और शब्द का प्रयोग किया जाता है वह है, अधिनायकवाद। एलफ्रेड कॉबेन के शब्दों में, "अधिनायकवादी सरकार एक व्यक्ति की सरकार को कहते हैं, जिसने अपना पद, वंशानुक्रम में नहीं, शक्ति प्रयोग या सहमति, या फिर इन दोनों के मिश्रण के आधार पर प्राप्त किया है। उसके पास परम संप्रभुता होती है जिसका प्रयोग वह अपनी इच्छानुसार करता है।" इस तरह की सरकार पर कभी-कभी एक राजनीतिक दल का अधिकार भी होता है। शक्ति इसका आधार होती है, जिसमें अधिनायक के अधिकार में असीमित सत्ता होती है।

एक सत्तावादी सरकार शीघ्रता से निर्णय लेने में सक्षम होती है। इस सरकार का एक गुण जिसका जिक्र किया जाता है, वह है कार्यकुशलता। यह देश के लिये समय पर शक्तिशाली और स्थाई सरकार प्रदान करती है। तीसरी दुनिया के कुछ देशों के सैनिक शासक अपनी सरकार का यही औचित्य बताते हैं। सत्तावादी सरकार अपने नागरिकों से उच्च देशभक्ति की भावना भी सुनिश्चित करती है। दूसरा पक्ष यह है कि देश के शासन में यह सरकार व्यक्ति को कोई महत्त्व नहीं देती। उन्हें कोई भी नागरिक या राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। सत्तावादी सरकार शक्ति पर आधारित होती है और इसलिए अधिक बलप्रयोग कर सकती है। सत्ता के केंद्रित होने के कारण सरकार या नेतृत्व का परिवर्तन निर्विघ्न और शांतिपूर्ण नहीं होता। इस प्रकार का परिवर्तन, आकस्मिक शासन परिवर्तन (coup d' etat) या क्रांति के फलस्वरूप होता है। दोनों ही अवस्थाओं में सरकार को सत्ताच्युत करने में शक्ति का प्रयोग होता है। अन्य देशों से संबंध में भी सत्तावादी सरकार आपसी समझबूझ की कमी दिखाती है। इस तरह की सरकार दूसरे देशों के साथ अपने संबंधों में अक्सर अधीर हो उठती है, जो अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए सहायक नहीं।

सत्तावादिता एक प्रकार की प्रवृत्ति है जिसमें सत्ता का केंद्रीकरण होता है। कभी-कभी लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी सत्तावादी प्रवृत्ति आ जाती है। फिर, कुछ ऐसे नेता होते हैं जो अधिक सत्तावादी होते हैं, जिनका असर उनके कार्य करने के तरीके पर पड़ता है। लोकतंत्र में भी इस तरह के नेता होते हैं। तीसरी दुनिया के कई देशों में लोकतांत्रिक और सत्तावादी सरकार सत्ता में बारी-बारी से आती रहती है। इसलिए, लोकतांत्रिक और सत्तावादी इन्हें एक गुण के रूप में देखना चाहिए जो सरकार और नेताओं में कम या अधिक मात्रा में पाई जाती है। अक्सर देखने में आता है कि कुछ सरकार लोकतंत्र का स्वरूप तो रखती हैं, लेकिन वास्तविक कार्य में सत्तावादी होती हैं। वस्तुतः लोकतंत्र एक ऐसा आदर्श है जिसकी प्राप्ति आसान नहीं है।

लोकतंत्र के रूप : प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष

जनता का प्रत्यक्ष शासन लोकतंत्र का शुद्धतम रूप है, जिसमें सभी लोग सरकार के कार्य में हिस्सा लेते हैं। प्लेटो द्वारा वर्णित नगर-राज्य में इस तरह की व्यवस्था दिखाई गई है। प्राचीन भारत के ग्रामीण गणराज्य में प्रत्यक्ष सहभागिता की व्यवस्था थी। जनमत संग्रह (Referendum) और उपक्रमण (Initiative) जैसे कुछ साधन स्विट्जरलैंड और अमरीका के कुछ राज्यों में प्रचलित हैं। लेकिन प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के ये साधन वहीं संभव हैं जहां की जनसंख्या थोड़ी हो। नगर-राज्य स्वयं ही छोटे थे और फिर सहभागिता का अधिकार नागरिकों को ही था — दास और औरतें उनसे वंचित थीं। आधुनिक राज्य आकार और जनसंख्या दोनों ही दृष्टि से विशाल हैं और इनमें प्रत्यक्ष प्रजातंत्र संभव नहीं है। कुछ राज्य ऐसे हैं जो छोटे हैं, और कुछ ऐसे कार्य भी हैं जो सीमित हैं लेकिन इनमें सभी की सहभागिता प्रभावकारी नहीं हो पाती। आधुनिक युग में लोकतंत्र का अर्थ लोगों द्वारा अप्रत्यक्ष शासन ही है। निर्वाचन या चयन द्वारा एक छोटे समूह का गठन होता है, जो जनता की ओर से कार्य करता है। इसी को प्रतिनिधि-व्यवस्था कहते हैं। लेखकों और दार्शनिकों में उचित और प्रभावकारी प्रतिनिधित्व वादविवाद का विषय रहा है, जिसमें कई प्रकार के प्रश्न उठाए गए हैं। किन लोगों का प्रतिनिधित्व होना है? किन तत्वों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए? प्रतिनिधि समूह कितना बड़ा होना चाहिए? जनता के प्रति प्रतिनिधियों का उत्तरदायित्व किस प्रकार सुनिश्चित किया जाए? इन प्रश्नों के उत्तर में ही संस्थाओं और

प्रक्रियाओं के बारे में सुझाव दिए गए हैं। अंततः नियमित अंतराल से प्रतिनिधियों के चुनाव को श्रेयस्कर माना गया है।

> जनमत संग्रह तथा उपक्रम के अतिरिक्त वापस बुलाना (Recall) भी प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक अन्य साधन है। इसका अर्थ मालूम कीजिए।
> विशिष्ट जनमत संग्रह (Plebiscite) का अर्थ बताइये।

लोकतांत्रिक सरकार की विशेषताएं

उपरोक्त आदर्शों के आधार पर प्रजातांत्रिक सरकार स्वतंत्रता और समानता के मूल सिद्धांतों की प्राप्ति सुनिश्चित करती है। सरकार जनता की सामान्य स्वीकृति पर आधारित होती है, जिसे जनमत की संज्ञा दी जाती है। इस स्वीकृति को प्राप्त करने और प्रभावकारी बनाने के लिए सरकार एक विशेष अवधि के लिए चुनी जाती है। ब्रिटेन में हर पांच वर्ष में आम चुनाव होते हैं। अमरीका में राष्ट्रपति का चुनाव चार वर्ष के लिए होता है। सोवियत संघ की विधायिका, सुप्रीम सोवियत, चार वर्षों की अवधि के लिए चुनी जाती है। भारत में संसद सदस्यों और राज्यों के विधान सभा के सदस्यों का चुनाव हर पांच वर्ष में होता है। ये चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होते हैं, जिनमें हर वयस्क नागरिक को चुनाव में हिस्सा लेने का अधिकार है। हर व्यक्ति के मत का समान महत्त्व होता है। स्वतंत्र और निष्पक्ष निर्वाचन ही लोकतांत्रिक सरकार का आधार है। इस तरह से चुने हुए प्रतिनिधि कानून बनाते हैं जो पूरे देश में लागू होते हैं। इस व्यवस्था के औचित्य के लिए यह तर्क दिया जाता है कि जो कानून निर्वाचित प्रतिनिधि द्वारा बनाए जाते हैं उनके लिए लोगों के व्यापक हित का ध्यान में रखना आवश्यक है। लोकतांत्रिक सरकार लोगों के सरकारी पद के लिए प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए समान अवसर प्रदान करती है। इस तरह मताधिकार के साथ ही निर्वाचन प्रतियोगिता में भाग लेने का अधिकार भी होता है।

जब लोग वोट के ज़रिए अपना मत प्रगट करते हैं तो यह स्वाभाविक है कि उनमें प्रतिनिधियों और वादविवाद के विषयों के बारे में मतभेद होगा। प्रतिनिधियों में भी निर्णय लेते समय मतांतर हो सकता है। कुछ एक कानून का पक्ष लेंगे तो दूसरे उसके विपक्ष में होंगें। ऐसी स्थितियों को सुलझाने के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था में बहुमत का सिद्धांत अपनाया जाता है। जिस विचार को बहुमत मिलता है वह मान लिया जाता है। जिस प्रतियोगी को बहुमत मिलता है उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। लेकिन जब निर्वाचन संपन्न हो जाता है तो अल्पमत, जिन्होंने विपक्ष में मत दिया था, बहुमत द्वारा लिए गए निर्णयों से बाध्य होते हैं। बहुमत सिद्धांत का प्रतिपादन सर्वप्रथम ईसा के पांच शताब्दी पहले एथेंस के प्रसिद्ध नेता पेरिकिल्स ने किया था। दूसरी तरफ, अल्पमत विचार और उनका पक्ष लेने वाले मतदाताओं को लोकनीति के निर्णय में महत्त्व दिया जाता है। बहुमत का निर्धारण किस प्रकार किया जाए? साधारण बहुमत (Simple Majority) को सबसे अधिक स्वीकृति प्राप्त है। इस व्यवस्था के अनुसार जो विचार या जिस प्रत्याशी को सबसे अधिक लोगों का समर्थन प्राप्त होता है उसे मान्य घोषित किया जाता है। कहीं-कहीं आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) का सिद्धांत अपनाया जाता है। इसके अनुसार किसी मत या प्रत्याशी को जिस अनुपात में समर्थन मिलता है, वह प्रतिनिधि सभा के संगठन में परिलक्षित होता है। पूर्ण बहुमत (Absolute Majority) के सिद्धांत के अनुसार आधे से अधिक मतदाताओं का समर्थन आवश्यक है। बहुमत निश्चित करने के इन तरीकों में सामान्य बहुमत सबसे सरल है और इसीलिए इसे अधिक स्वीकार किया जाता है।

लोकतांत्रिक सरकार के जिन मानदण्डों की चर्चा हुई है उन सबके पीछे यह प्रयास है कि सरकार को उत्तरदायी बनाया जाए। सरकार की सत्ता सीमित करने की दृष्टि से लोकतांत्रिक व्यवस्था कुछ कानून और अधिनियम प्रतिपादित करती है जो सरकार के कार्य के लिए पथ प्रदर्शन करती हैं। उपरोक्त सिद्धांत और कार्यविधि जैसे स्वतंत्रता, समानता, नियमित अंतराल पर स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव, समान अवसर, बहुमत का सिद्धांत, आदि देश के मूल कानून में प्रतिस्थापित किए जाते हैं। उनका अनुसरण सरकार की स्वेच्छा पर नहीं छोड़ा जाता। ये मूल कानून अक्सर संविधानिक प्रथाओं या समाज की परंपरा के मानदण्डों में भी निहित होते हैं। इन सभी अवस्थाओं में लोकतांत्रिक सरकार के लिए कानून का शासन (Rule of Law) एक मानदण्ड के रूप में स्वीकार्य है।

क्षमताएं और कमज़ोरियां

लोकतंत्र आधुनिक युग के चिंतन का एक हिस्सा बन चुका है। कोई भी देश यह घोषित करने को तैयार नहीं कि उसकी

सरकार अलोकतांत्रिक है। लेकिन लोकतंत्र का अर्थ विभिन्न विचारधाराओं के अनुसार अलग-अलग दिया जाता है। लोकतांत्रिक सरकार की क्षमताओं और कमजोरियों पर विचार इस दृष्टि से नहीं किया जाता कि उसकी तुलना सरकार के दूसरे स्वरूपों से करें। इसका ध्येय यह है कि इस तरह की सरकार के कार्य, उससे अपेक्षाएं, और उनकी सीमाओं को अच्छी तरह समझें। इस विचारविमर्श से लोकतंत्र का कार्य और अच्छा हो सकता है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था जिन सिद्धांतों पर आधारित है, जैसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता, स्वतंत्र और न्यायसंगत चुनाव, बहुमत का नियम, उनका ध्येय शासक और शासित के बीच सुदृढ़ कड़ी स्थापित करना है। इसके लिए जिन साधनों को अपनाया जाता है उसका लक्ष्य यह स्पष्ट करना होता है कि सरकार लोगों के समर्थन के आधार पर पदासीन होती है, और लोगों को सरकार के कार्य का पुनर्विवेचन करने का मौका मिलेगा। अगर कोई कमी पाई गई तो मत द्वारा सरकार को पद से हटाया जा सकता है। लोगों में इस तरह का विश्वास सरकार को स्वाभाविक वैधता प्रदान करता है। वस्तुतः लोकतंत्र की संपूर्ण प्रक्रिया वैधता को सुदृढ़ आधार प्रदान करती है। लोकतांत्रिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं द्वारा पारित कानून आसानी से स्वीकार कर लिए जाते हैं और लोग स्वेच्छा से उनका पालन करते हैं।

लोकतंत्र लोगों में विभिन्नताओं की अपेक्षा समानताओं पर अधिक बल देता है। यह प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) के सिद्धांत का अनुमोदन करता है, जिसके अनुसार सभी व्यक्तियों को समान अधिकार प्रदान किया जाता है। इससे सबको समान अधिकार और अवसर प्राप्त होता है। लोगों की सहभागिता से राजनीतिक प्रक्रिया और संस्थाओं के बारे में अधिक जानकारी मिलती है और उनमें सम्मिलित होने की भावना आती है। लोग सरकारी संस्थाओं और उनके कार्य के बारे में अधिक अवगत और प्रशिक्षित हो जाते हैं। उन्हें अपने अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में जानकारी मिलती है और वे उसके प्रति सजग हो जाते हैं। लोकतंत्र अपने नागरिकों को प्रभावकारी प्रशिक्षण देता है। अपने ऊपर शासन करने की क्षमता पर जो विश्वास दिखाया जाता है उससे लोगों में स्वाभिमान और गौरव की भावना आ जाती है। इन सब कारणों से राजनीतिक व्यवस्था को अंततः अधिक एकीकरण और सफलता प्राप्त करने में सहायता मिलती है। जे. एस. मिल के शब्दों में प्रजातंत्र "किसी भी राजतंत्र की अपेक्षा बेहतर और उच्चतर राष्ट्रीय चरित्र को प्रोत्साहन देता है।"

सरकार के दृष्टिकोण से लोकतांत्रिक प्रक्रिया उसे लोगों की इच्छाओं, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और मांगों के प्रति स्वाभाविक रूप से संवेदनशील बना देती है। सरकार इस बात के प्रति सजग रहती है कि उसका कार्य लोगों के हित और कल्याण के अनुकूल हो। चुनाव प्रक्रिया में समाज के सभी वर्गों का महत्त्व होता है। इस तरह लोकतांत्रिक सरकार लोगों के कल्याण के प्रति अधिक संवेदनशील होती है। इससे सरकार को बेनथम द्वारा प्रतिपादित लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता मिलती है, "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख।"

समाज और सरकार में आपस में सामंजस्य आवश्यक है। दोनों में परिवर्तन आता है, जिनका प्रकार और परिमाण अलग-अलग होता है। समाज सतत् परिवर्तनशील है जिसमें नई शक्तियां, नए विचार, और लोगों के नए समूह, पुराने की जगह लेना चाहते हैं। अक्सर ये नई शक्तियां प्रचलित सरकार में परिवर्तन लाना आवश्यक समझती हैं। लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अंतर्गत चुनाव की स्वाभाविक प्रक्रिया में निर्विघ्न परिवर्तन आ सकता है। इन मानदण्डों के अंदर ही अधिक प्रबल परिवर्तन भी लाए जा सकते हैं। इस तरह विभिन्न दल सत्ता प्राप्ति के लिए प्रतियोगी होते हैं और दलों के अंदर भी लोगों में प्रतियोगिता होती है। निर्वाचित संस्था और प्रतिनिधि परिवर्तनशील सामाजिक शक्तियों के प्रति संवेदनशील होते हैं और ये सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों में दिखाई पड़ते हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था आसानी से अपने को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेती है। वैधता का स्तर और परिवर्तन के अनुकूल होने की क्षमता, ये दोनों लोकतांत्रिक सरकार को स्थायित्व प्रदान करते हैं।

लोकतांत्रिक सरकार की कुछ कमजोरियों पर ध्यान देना आवश्यक है। इसमें सभी लोगों को समान समझा जाता है और इस तरह व्यक्तिगत प्रतिभा की अवहेलना हो जाती है। फलतः लोकतंत्र सर्वोत्तम लोगों को नहीं, औसत लोगों का शासन होता है। जिस सरकार पर सतत् दबाव और प्रत्युत्तर में दूसरे दबाव पड़ते रहेंगे, वे अपनी इच्छित दिशा में असानी से अग्रसर नहीं हो पाएगी। हर समय इस बात की संभावना रहती है कि सरकार अभीष्ट निर्णयों के स्थान पर लोकप्रिय निर्णय ले लेगी। मूल हित और वरीयता की दृष्टि से समाज के विभिन्न वर्गों में अंतर तो होता ही है। संघर्षों और संघर्ष

की परिस्थितियों के बीच, सरकार द्वारा लिए गए निर्णय समाज के सभी वर्गों को मान्य नहीं हो सकते। कुछ ऐसे निर्णय भी हो सकते हैं जो सरकार के लिए अभीष्ट हों, लेकिन जिसे लोगों का समर्थन प्राप्त नहीं हो। ऐसी स्थिति में लोकतांत्रिक सरकार, जो आम जनमत पर सर्वथा निर्भर है, इस विचार के सामने झुक जाती है कि निर्णय लोगों को स्वीकार होगा या नहीं।

चुनाव प्रणाली के जरिए लोकतंत्रीय सरकार का गठन होता है। इसकी मुख्य मान्यता यह है कि मनुष्य समान होते हैं। किसी भी समाज में पूर्णतया समानता की स्थिति नहीं होती है। असमानताएं कई प्रकार की होती हैं और इनमें कई अनिवार्य होती हैं। आर्थिक असमानता एक ऐसी सुस्पष्ट असमानता है जिसका निर्वाचन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। धनी लोगों का निर्वाचन व्यवस्था पर अधिक असर होता है। गरीब लोगों का मत देने का निर्णय अक्सर उन लोगों से प्रभावित होता है जिनके पास अधिक साधन हैं। निर्वाचन पर विभिन्न प्रकार की असमानताओं का असर होता है, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, जातीय, लैंगिक। स्वतंत्र और न्यायसंगत निर्वाचन का संपादन हर समय संभव नहीं हो पाता। निर्वाचन पर प्रभाव के संदर्भ में लोकमत (Public opinion) निर्माण की चर्चा होती है, जिसे तीसरे दशक में वाल्टर लिपमैन ने सामने रखा था। समाचार पत्र, रेडियो, और टेलीविज़न जैसे संचार और प्रचार के साधन समाज के कुछ आर्थिक रूप से प्रमुख लोगों के प्रभाव में होते हैं। कई देशों में उन पर सरकार का पूरा नियंत्रण होता है। निर्वाचन पर जो लोकमत परिलक्षित होता है वह इन्हीं तत्वों द्वारा परिचालित होता है। हित समूहों और दबाव समूहों की भी इस प्रसंग में अपनी भूमिका होती है। आम जनता के मत पर उत्तेजक भाषण करने वालों का भी प्रभाव पड़ता है।

बहुमत का सिद्धांत जिसकी चर्चा हमने पहले की है, कभी-कभी "बहुमत निरंकुशता" की तरह काम करता है। इस शब्द का प्रयोग डी. टाकियावेली ने किया था। आम चुनाव और निर्णय लेने की स्थिति, इन दोनों में हर समय एक अल्पमत होता है जो इन प्रक्रियाओं पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाता। सरकार आखिर बहुमत के समर्थन पर ही सत्ता में आती है। ऐसा भी हो सकता है कि जो दल चुनाव में अल्पमत में हैं, उसे संसद में इतना स्थान मिल जाए कि उसे बहुमत प्राप्त हो जाए। सामान्य बहुमत (Simple Majority) व्यवस्था में अक्सर ऐसा होता है। भारत में कांग्रेस पार्टी इसका एक अच्छा उदाहरण है, जिसके पक्ष में मत 1977 में 34.5 प्रतिशत और 1984 में 49.10 प्रतिशत के बीच घटता-बढ़ता रहा है। यही बहुमत दल और उसके प्रतिनिधि पूरे समाज के लिए कानून बनाते हैं।

चुनाव की प्रक्रिया और लोकतांत्रिक संस्थाएं खर्चीली होती हैं। आम चुनाव में बड़ी संख्या में लोग हिस्सा लेते हैं और उसके संगठन और संचालन में राज्य को काफी व्यय करना पड़ता है। भारत में मतदाताओं की संख्या 1952 में 173, 213, 635 थी, जो 1984 तक बढ़कर 235, 184, 209 हो गई। 1984 के आम चुनाव में 4, 79, 012 मतदान केंद्र थे, जिनमें चुनाव संपादन में 23, 95676 राज्य कर्मचारी तैनात थे। इस पैमाने पर चुनाव करवाने में अगर अधिक खर्च होता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। भारत सरकार ने 1984 ई० में 20 राज्यों में चुनाव करवाने में 856, 358 रु० खर्च किया। फिर, एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में आम चुनाव के अलावा ऐसे कई अवसर आते हैं जब चुनाव करवाए जाते हैं। भारत में संसद और राज्य विधायिका के पंचवर्षीय चुनाव के अलावा और कई चुनाव होते हैं, जैसे राष्ट्रपति का चुनाव और नगर निगम और ग्राम पंचायत जैसी स्थानीय संस्थाओं के चुनाव। ऐसे अवसरों पर खर्च आखिर समाज के साधन से ही होता है। चुनाव के बाद जो संस्थाएं बनती हैं उनके रख-रखाव और कार्य में भी काफी खर्च होता है। लोकतांत्रिक सरकार के साथ जो उपकरण जुड़े हैं, वे समाज के साधन पर बोझ बन जाते हैं। आलोचकों का कहना है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में फिजूलखर्ची होती है। यह ध्यान देने योग्य विषय है कि लाभ खर्च के आनुपातिक नहीं हैं।

लोक-उत्तरदायित्व की व्यवस्था में यह आवश्यक है कि सरकार के कार्य पर नियंत्रण हो और उसकी वैधता लोगों की स्वीकृति पर आधारित हो। विधायकों और मंत्रियों द्वारा नियंत्रण से निर्णय लेने में अक्सर देरी हो जाती है। विधायी प्रक्रिया में ही काफी समय लग जाता है। लोगों द्वारा निर्वाचित नेताओं का पद पर होने का अर्थ है कि प्रशासन पर अव्यवसायी लोगों का अधिकार। लेकिन आधुनिक राज्य के बहुत से निर्णय ऐसे होते हैं जिनकी विषयवस्तु और कार्यविधि जानने के लिए विशेष-ज्ञान की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति हो सकती है जब तकनीकी और प्रशासनिक दृष्टि से अभीष्ट निर्णय इसलिए ताक पर रख दिए जाएं कि उनके लोकप्रिय होने में

संदेह है। यह आरोप अक्सर लगाया जाता है कि लोकतांत्रिक सरकार हर समय कार्यकुशल शासन नहीं दे पाती।

सफल लोकतंत्र के लिए अनुकूल वातावरण

सरकार के सभी स्वरूपों का निर्धारण समाज के द्वारा होता है, लेकिन लोकतांत्रिक सरकार पर इसका असर ज्यादा होता है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि लोगों की सहभागिता के आधार पर ही सरकार की स्थापना होती है। निर्वाचन पद्धति हर व्यक्ति को महत्व देती है। इसीलिए यह आवश्यक है कि लोग "वांछनीय" और "अवांछनीय" के बीच भेद पहचानें। प्रभावशाली सामान्य बुद्धि और राज्य के कार्य के बारे में चैतन्य भी सहायक होते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा महत्त्वपूर्ण है। लेकिन स्कूल और कॉलेज में प्राप्त औपचारिक शिक्षा और राजनैतिक शिक्षा में भेद किया जाता है। औपचारिक शिक्षा के बग़ैर भी राजनीतिक शिक्षा संभव है। भारत जैसे देशों में इसका प्रचुर प्रमाण मिलता है, जहाँ साक्षर और शिक्षितों की संख्या थोड़ी है। इसका यह अर्थ नहीं कि औपचारिक शिक्षा की कोई भूमिका है ही नहीं। यह तो मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। लोकतंत्र के लिए शिक्षा आवश्यक है क्योंकि व्यक्ति और उसका विकास ही लोकतंत्र का आधार है।

इस प्रसंग में जे॰ एस॰ मिल ने कुछ विशेष बातों का ज़िक्र किया है। लोकतांत्रिक सरकार लाने के लिए लोगों की क्षमता और वास्तविक इच्छा इसकी सफलता के लिए आवश्यक है। लोकतंत्र जब संकट की स्थिति में हो तो उसे बचाने के लिए तैयार रहना चाहिए। नागरिकों द्वारा कर्तव्यों का पालन भी महत्त्वपूर्ण है।

चुनाव में हिस्सा लेना तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही सरकार के कामकाज में सतत् दिलचस्पी भी आवश्यक है। चुनाव राजनीतिक दल और हित समूह जैसी संस्थाओं द्वारा लिए गए निर्णयों की जटिल श्रृंखला का चरम बिंदु है। विभिन्न प्रतियोगियों में से चुनाव के लिए उम्मीदवारों को चुनना पड़ता है। राजनीतिक दल और उम्मीदवार लोगों का समर्थन प्राप्त करने के लिए व्यापक प्रचार करते हैं। निर्वाचक मण्डल उम्मीदवारों के गुण-अवगुण की विवेचना करते हैं। यह सभी प्रक्रियाएं चुनाव से पहले होती हैं। इन सभी क्रियाकलापों में अधिक लोगों का भाग लेना महत्त्वपूर्ण होता है। चुनाव जहां इन प्रक्रियाओं का अंतिम छोर है, वहीं दूसरी प्रक्रियाओं की शुरुआत भी है। इसके आधार पर नेताओं का चुनाव होता है और निर्णय लेने के लिए संस्थाओं का संगठन किया जाता है। एक सजग लोकमत द्वारा निर्णयों की समालोचना और उनके विभिन्न पहलुओं पर सुझाव, उन्हें समाज के लिए अधिक उपयुक्त बनाते हैं। निर्णयों की विषय वस्तु और उनके परिणामों में लोगों की दिलचस्पी महत्त्वपूर्ण है। ऐसी सतत् दिलचस्पी से निर्णय लेने वाली संस्थाएं लोगों की आवश्यकताओं और मांगों के प्रति अधिक संवेदनशील को जाती हैं। ऐसे निर्णय लोग आसानी से स्वीकार करते हैं। इसका कारण सिर्फ यह नहीं कि ये निर्णय सरकार द्वारा लिए गए हैं और उन्हें लागू किया जाएगा। एक कारण यह भी है कि जिन लोगों को इन्हें स्वीकार करना है वे यह समझते हैं कि ये निर्णय क्या हैं और उनका आशय क्या है।

लोकतांत्रिक सरकार के लिए लोगों में अपने अधिकार और कर्तव्य के बारे में उच्च कोटि की चेतना इसलिए आवश्यक है कि लोक-इच्छा इसका आधार है। सरकार का चुनाव करना महत्त्वपूर्ण है। इसमें सरकार में परिवर्तन लाने का अधिकार भी निहित है। इसके अतिरिक्त नागरिकों के बहुत से व्यापक अधिकार हैं जिनके उपयोग में नियंत्रण की आवश्यकता होती है। उदाहरणस्वरूप, नागरिकों को सरकार और उसके निर्णयों का प्रतिवाद करने का अधिकार है। फिर, नागरिकों को विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रता के अधिकार दिए जाते हैं। इन अधिकारों का सावधानी से और नियंत्रित रूप से व्यवहार करना चाहिए। नागरिकों में अपने अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में चेतना आवश्यक है। हम ऊपर देख चुके हैं कि अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक व्यक्ति का अधिकार तभी प्राप्त होता है जब दूसरे अपने कर्तव्य का पालन करें। स्वतंत्रता का अधिकार तभी तक सुरक्षित रह सकता है जब तक दूसरे उस अधिकार में दख़ल न देने का कर्तव्य निभाएं। लोकतांत्रिक सरकार अपने नागरिकों को अधिक अधिकार देती है और इसीलिए अधिक कर्तव्य की भावना की प्रत्याशा की जाती है। अपना मतदान करने जैसे कुछ कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक है, जिससे चुनाव करने के अधिकार का प्रयोग हो सके और सरकार पर नियंत्रण रखा जा सके। अपने अधिकारों और कर्तव्यों का समुचित प्रयोग करने के लिए लोकतंत्र में नागरिकों को अपनी इच्छा व्यक्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। निर्वाचन के समय लोग अपनी पसंद के अनुसार मत देने की स्थिति में होने चाहिए। व्यक्तिगत स्वतंत्रता लोकतांत्रिक

सरकार का मूल आधार है। जिस समाज में सामाजिक और आर्थिक समानता न हो वहाँ स्वतंत्रता का पूर्ण निर्वाह कठिन हो जाता है। असमानता की स्थिति में जो लोग सामाजिक या आर्थिक रूप में पिछड़े हैं, वे चुनाव की स्वतंत्रता का उपयोग नहीं कर पाते। चुनाव के खर्चे में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। इसलिए केवल धनवान ही चुनाव में भाग ले सकते हैं। गरीबों पर धनी लोगों का वैसे भी प्रभुत्व रहता है और वे धनी लोगों के प्रभाव में अपना मतदान करते हैं। इसी प्रकार का प्रभाव तथा कथित ऊंची जातियाँ समाज के पिछड़े वर्गों पर भी डालती हैं। वे वर्ग जो कि सामाजिक और आर्थिक रूप से अधिक सम्पन्न हैं, मतदान की प्रक्रिया में अन्य वर्गों पर प्रभाव डालते हैं,। भारत में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोग तथा भूमिहीन मजदूर, जो आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़े हैं, अपने अधिकारों की प्राप्ति में कठिनाई का अनुभव करते है।

प्रजातंत्र चुनाव के समय और अपने काम में बहुमत सिद्धांत का पालन करता है। जिस उम्मीदवार या दल को बहुमत मिलता है, वह पदासीन होता है। विधायिका जैसी संस्थाओं में बहुमत के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं। ये कार्यविधि समाज के बहुमत वर्ग को महत्व देती है। लेकिन प्रजातांत्रिक सरकार को समाज में मतैक्य (consensus) के आधार पर कार्य करना चाहिए। सिर्फ बहुमत का ही नहीं, अल्पमत का भी ध्यान रखना चाहिए। वास्तव में, लोकतंत्र में अल्पमत के हितों को सुरक्षित रखने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। लोकतंत्र में अल्पमत के अधिकारों का आदर आवश्यक है।

लोकतंत्र में सामान्यत: विभिन्न विचारों, दृष्टिकोण, दलों और सिद्धांतों के प्रति उदारता आवश्यक है। विभिन्न आदर्श और विचार आखिर समाज में ही उत्पन्न होते हैं। इस उदारता के फलस्वरूप प्रतिद्वंद्वी समूहों में स्वस्थ प्रतियोगिता होती है, जिससे लोकतंत्र को बल मिलता है।

अल्पमत के प्रति उदारता और सम्मान के कारण विरोधी पक्ष लोकतंत्र का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। संसदीय व्यवस्था में जिस दल का बहुमत होता है वह पदासीन हो जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ दल अल्पमत में होते हैं, जिन्हें प्रतिपक्ष कहते हैं। यह सरकार के कार्य के प्रति सतत् सतर्क रहते हैं। ये कार्य के बारे में प्रश्न पूछते हैं और वैकल्पिक सुझाव रखते हैं। चुनाव में ऐसा सर्वथा संभव है कि जो दल एक समय में अल्पमत में है उसे दूसरे समय में बहुमत मिल जाए। ऐसे समय में विपक्षी दल में यह क्षमता होनी चाहिए कि सरकार का निर्माण कर सके। ब्रिटेन और भारत जैसे देशों की संसद के कार्य में विपक्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। ये सरकार पर प्रभावकारी नियंत्रण रखते हैं। विपक्ष के अभाव में लोकतंत्र पर एक दल या एक व्यक्ति का अधिकार हो सकता है और वह एक अधिनायकवादी सरकार में बदल सकता है।

तीसरी दुनिया और लोक सहभागिता का विरोधाभास

लोकतांत्रिक व्यवस्था अपने अस्तित्व और कार्य दोनों के लिए लोगों की सहभागिता पर निर्भर रहती है। इसके विशेष माध्यम हैं चुनाव, वयस्क मताधिकार, निर्वाचित विधायिका, राजनीतिक दल और दबाव समूह। जहां एक ओर लोकतंत्र की संपूर्ण प्रक्रिया सहभागिता पर आधारित है, वहीं इससे सरकार के कार्य में कठिनाई भी उत्पन्न हो सकती है। कुछ वर्ग सहभागिता की प्रक्रिया से अलग रह सकते हैं, तो कुछ अन्य वर्गों की अति-सहभागिता हो सकती है।

कोई भी लोकतंत्र राज्यकार्य में शत प्रतिशत लोगों की सहभागिता सुनिश्चित नहीं कर पाया है। फिर, सहभागिता समान मात्रा में नहीं होती। अगर हम सहभागिता के सबसे प्रत्यक्ष तरीके, मतदान को ही लें, तो हम पाएंगें कि पुराने और अधिक विकसित देशों में भी मतदाताओं का प्रतिशत कम रहा है। जो लोग वास्तविक मतदान करते हैं उनकी औसत प्रतिशत ब्रिटेन में 74, अमेरिका में 59, और स्विट्जरलैंड में 53 है। भारत में यह संख्या लगभग 60 रही है। सहभागिता के अन्य माध्यमों में ये प्रतिशत और भी कम है। असहभागिता के कई कारण हो सकते हैं। असमानता के कारण कम आमदनी या कम वैभव वाले लोग अपनी इच्छा प्रकट करने में कठिनाई का अनुभव कर सकते हैं। ऐसे समूहों में यह भावना हो सकती है कि उनकी सहभागिता का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि निर्णय हर हालत में उन्हीं लोगों के पक्ष में होगा जिनका प्रभुत्व है। लोकतंत्र में निष्ठा का अभाव इस भावना से भी हो सकता है कि व्यवस्था संवेदनशील नहीं है, उनकी सहभागिता का कोई प्रभावकारी असर नहीं होगा। कुछ लोग यह भी समझते हैं कि मत का कोई मूल्य नहीं होगा। इस प्रसंग में विभिन्न विषयों के बारे में या सहभागिता के अधिकार के बारे में, अनभिज्ञता की भी चर्चा की जाती है। ऐसी स्थिति भी हो सकती है कि लोग विभिन्न दबावों के कारण यह निर्णय न ले पाएं कि किसका पक्ष लिया जाए। सहभागिता का अर्थ अगर निर्णय

पर प्रभाव डालना ही है, तो कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि हर हालत में निर्णय उनके पक्ष में ही होगा। इस तरह असहभागिता समाज के विभिन्न वर्गों में हो सकती है और हर वर्ग का अपना कारण हो सकता है। ये विभिन्न असहभागी वर्ग सर्वथा पृथक भी नहीं होते, ये एक दूसरे के साथ होते हैं। इन वर्गों के अतिरिक्त कुछ राजनीतिक समूहों की प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था से असहमति होती है, और वे आमूल परिवर्तन चाहते हैं।

जो लोग हिस्सा लेते हैं, उनकी सहभागिता की मात्रा अलग-अलग होती है। न्यूनतम स्तर पर तो वे होते हैं जो चुनाव में सिर्फ अपना वोट डाल देते हैं। ऐसा हो सकता है कि चुनाव की प्रक्रिया से इनका कोई लगाव न हो और इन्हें चुनाव के मुद्दों और उम्मीदवारों के बारे में कुछ भी पता न हो। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो वोट तो नहीं डालते लेकिन राजनीतिक दलों के अन्य कार्यों में हिस्सा लेते हैं। कुछ प्रतियोगी उम्मीदवारों के पक्ष में सक्रिय हो सकते हैं। कुछ स्वयं उम्मीदवार हो सकते हैं। अगर हम दल, दबाव समूह, और हित समूह में हिस्सा लेने की बात करें, तो ऐसे लोगों की संख्या कम होती है। इस तरह हम देखते हैं कि सहभागिता के कई स्तर होते हैं।

सहभागिता का अभाव पहलू का एक ही रुख है। बहुत से लोगों द्वारा अतिसहभागिता भी कभी-कभी समस्या का कारण बन जाती है। समाज में विभिन्न प्रकार के समूह होते हैं और उनके हित भी अलग-अलग होते हैं। सहभागी समूह अपना हित सामने रखते हैं और इस बारे में सरकार से उनकी कुछ अपेक्षाएं होती हैं। ऐसा हो सकता है कि सरकार के समक्ष ऐसी बहुत सी माँगे हों और उन सबको संतुष्ट करना संभव न हो। ऐसी स्थिति में सहभागी समूहों की अपेक्षाएं अपूर्ण रह जाती हैं। ऐसे समूहों के सामने, सरकार कुछ उपायों को आवश्यक समझ सकती है जिससे विभिन्न समूहों और मांगों में समन्वय स्थापित हो सके और उन पर नियंत्रण हो सके। अक्सर ये उपाय सत्तावादी व्यवस्था की शुरुआत होते हैं। तीसरी दुनिया के कई देशों ने सहभागिता के इस फैलाव के सामने अपने को निरुत्तर पाया और सैनिक शासन का सहारा लिया।

असहभागिता और अतिसहभागिता की समस्याएं बहुलवादी (Pluralists) विद्वानों के विचार के मुख्य विषय हैं। ऐसे कुछ विद्वानों के नाम हैं: डेविड ट्रूमन, राबर्ट ए. डाल, चार्ल्स ई. लिंडबॉम, नेलसन डब्ल्यू. पोल्सबी, डेबिड ई.एप्टर और आर्न्ड लिज़फार्ट। इनकी व्याख्या और उन पर आधारित समाधान दो प्रकार के हैं: उदार बहुलवादी और उग्र बहुलवादी। पहले विचार के लेखक मुख्य रूप से सत्ता में प्रभावकारी हिस्सेदारी को आवश्यक मानते हैं और समाज में ऐसे प्रतियोगी सत्ताकेंद्रों की स्थापना चाहते हैं, जिससे सामाजिक समूहों में पारस्परिक संबंध स्थापित हो सके। विभिन्न समूहों के प्रतियोगी विशिष्ट वर्ग सत्ता के पदों पर आसीन होने चाहिए। समूहों और विशिष्टवर्गों की आपसी प्रतिस्पर्धा ही लोगों को अधिक और प्रभावकारी सहभागिता के अवसर प्रदान करती है। इससे लोकतंत्र भी सुनिश्चित होता है। इस तरह राबर्ट ए. डाल के बहुतंत्र (Polyarchy) का अर्थ है बहुत से लोगों का शासन, जिसमें लोकतांत्रिक पद सोपान की व्यवस्था हो। ये तर्क और सुझाई गई व्यवस्था, ऐसे समाज की व्याख्या पर आधारित हैं जहां स्थायित्व है और जिसमें सामाजिक विभाजन तीखा नहीं है, उदाहरण के लिए अमेरिका जैसे औद्योगिक रूप से विकसित देश। उदार बहुलवादी समाधान की सफलता के लिए प्राय: मतैक्य आवश्यक है। तीसरी दुनिया के देशों में सामाजिक विभाजन और संघर्ष तीखा है और प्रतियोगिता असमान समूहों और व्यक्तियों में है।

उग्र बहुलवादी समाधान जनता और सरकार के बीच कोई बिचौलिया नहीं चाहता। उनके अनुसार एक मात्र प्रभावकारी समाधान है, लोगों की प्रत्यक्ष और प्रभावकारी सहभागिता। उचित रूप से संगठित छोटी राजनीतिक इकाइयों से इस लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है, जिसमें लोग प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा ले सकें। संस्थाओं को पद सोपान के रूप में सजाने से कुछ समाधान नहीं को सकता। सत्ता समुदाय के पास ही होनी चाहिए। इस व्यवस्था के कुछ प्रयोगों के उदाहरण जो दिए जाते हैं, वे हैं यूगोस्लाविया में कारखाने के स्तर पर स्वप्रबंध, तंजानिया के उजामा गांव, और स्वीडन के मोटर कारखाने में मज़दूर समूह। भारत में प्रारंभिक स्तर पर पहल की जो चर्चा हमने पहले की है वह प्रभावकारी सहभागिता के इसी प्रकार के समाधान का उदाहरण हैं।

इस तरह लोकतांत्रिक सरकार और उसके उदात्त आदर्श और लक्ष्य कदापि ही आसान विकल्प नहीं है। इसकी सफलता के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था का निरूपण अत्याधिक सावधानी से किया जाना चाहिए।

अभ्यास

1. लोकतांत्रिक सरकार किसे कहते हैं? लोकतांत्रिक सरकार का सत्ताधारी और सर्वसत्ताधारी सरकार से अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. लोकतांत्रिक सरकार के गुण बताइए।
3. लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए कौन सी दशाएं आवश्यक होती हैं?
4. आधुनिक युग में प्रत्यक्ष लोकतंत्र क्यों नहीं संभव हैं?
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) लोकतंत्र में जन संचार साधनों की भूमिका
   (ख) "बहुतंत्र" क्या है?
   (ग) लोकतंत्र की प्रक्रिया और "असहभगिता" और "अतिसहभगिता

अध्याय 7

संसदीय और अध्यक्षीय सरकार

सरकार के तीन मुख्य कार्य हैं : कार्यकारी, विधायी और न्यायिक। ये कार्य विभिन्न संस्थाओं को सौंपे जाते हैं। संसदीय और अध्यक्षीय सरकारों में भेद इस दृष्टि से किया जाता है कि कार्यपालिका और विधायिका के बीच क्या संबंध है और ये किस सीमा तक एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। अध्यक्षीय शासन में ये दोनों पृथक होते हैं, लेकिन संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका का उद्‌गम स्थान विधायिका है। "सत्ता का विलय" संसदीय सरकार की विशेषता है और "सत्ता का पृथक्करण" अध्यक्षीय सरकार की। इनमें दूसरा अंतर यह है कि कार्यकारी सत्ता का स्थान निर्धारण। संसदीय व्यवस्था में "सरकार का प्रधान" तथा "राज्य का प्रधान" पृथक-पृथक होता है। भारत का राष्ट्रपति और ब्रिटेन का सम्राट राज्य के प्रधान हैं और इन दोनों देशों में सरकार के प्रधान हैं, प्रधान मंत्री। अध्यक्षीय सरकार में ऐसा कोई भेद नहीं होता। यहाँ समस्त कार्यकारी अधिकार एक व्यक्ति को सौंपे जाते हैं। अमेरिका का राष्ट्रपति वहां की *कार्यपालिका का प्रतिनिधित्व करता है।* ब्रिटेन और अमेरिका संसदीय और अध्यक्षीय व्यवस्था के सर्वमान्य उदाहरण हैं। कुछ अन्य व्यवस्थाएं ऐसी हैं जिनमें दोनों की विशेषताएं मौजूद हैं।

संसदीय व्यवस्था

संसदीय व्यवस्था में विधायिका का गठन मुख्यत : निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। जिस राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त होता है उसके नेता को प्रधान मंत्री के पद के लिए आमंत्रित किया जाता है। प्रधान मंत्री, मंत्री-परिषद का गठन करता है जिसके सदस्य वे सांसद होते हैं जो उसी के दल के हों। इस तरह संपूर्ण कार्यपालिका बहुमत दल के सदस्यों से निर्मित होती है। मंत्रिपरिषद के अंदर ही एक छोटा समूह होता है जिसे मंत्रिमंडल (Cabinet) कहते हैं। भारत की मंत्री परिषद में केबिनेट मंत्रियों के अतिरिक्त राज्य मंत्री और उपमंत्री, और कभी-कभी ससदीय सचिवों का स्थान भी होता है। मंत्रिमंडल के सदस्यों को अधिक महत्व दिया जाता है और प्रधान मंत्री उनसे नियमित मंत्रणा करता है। उनके पास सरकार के महत्त्वपूर्ण विभागों का स्वतंत्र कार्य भार होता है। राज्यमंत्री केबिनेट मंत्री के साथ संलग्न होकर किसी सरकारी विभाग का काम देखते हैं। उन्हें विभागों का स्वतंत्र कार्य भार भी दिया जा सकता है। उपमंत्री केबिनेट मंत्री और राज्य मंत्री के साथ जुड़े होते हैं, और कार्य संपादन में उनकी मदद करते हैं। वित्त जैसे महत्त्वपूर्ण विभाग के मंत्री के साथ कई उपमंत्री होते हैं। संसदीय सचिव का कार्य मंत्रियों को उनके संसदीय मामलों में सहायता करने तक ही सीमित रहता है। भारतीय संविधान की धारा 74 (1) में राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मंत्री और धारा 75 (1) में मंत्रीपरिषद की नियुक्ति की प्रस्तावना है। मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मंत्री की सिफारिश पर की जाती है। प्रधान मंत्री अपने सहयोगी मंत्रियों का चुनाव करता है और अगर प्रधान मंत्री चाहता है तो उन्हें इस्तीफा देना पड़ता है। प्रधान मंत्री अगर विधायिका में विश्वास खो देता है तो उसे अपने मंत्रिपरिषद के साथ त्यागपत्र देना पड़ता है। ऐसा उस हालत में भी होता है जब उसी दल का कोई अन्य नेता पद संभालता है। नया नेता फिर से अपने मंत्रिपरिषद का गठन करता है।

विधायिका में राजनीतिक दलों की स्थिति के आधार पर ही प्रधान मंत्री की नियुक्ति होती है। अगर विधायिका में दल की स्थिति के अनुसार किसी दल को स्पष्ट बहुमत हो तो। प्रधान मंत्री की नियुक्ति स्वत: सिद्ध होती है। दल-स्थिति स्पष्ट न होने की स्थिति में प्रधान मंत्री की नियुक्ति से संबंधित निर्णय राज्य के प्रधान द्वारा लिया जाता है।

पदासीन हो जाने पर मंत्रिपरिषद्, प्रधान मंत्री और सरकार के सभी कार्यों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ यह है कि मंत्रिपरिषद के सभी सदस्य उसके सभी निर्णयों का प्रकट रूप से समर्थन करें। जैसे हेरी ई॰ एक्सटाइन कहते हैं, "एक का कार्य हर एक का है और वे एक साथ पद पर बने रहते हैं या पदच्युत होते हैं।" अगर कोई मंत्री, मंत्रिमंडल के निर्णय से असहमति प्रकट करता है, तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। इस व्यवस्था में यह भी प्रावधान है कि अगर प्रधान मंत्री संसद में विश्वास खो देता है तो उसे अपने मंत्रियों के साथ त्यागपत्र देना होगा। मंत्रिमंडल के सभी निर्णयों के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व के साथ-साथ मंत्री अपने विभागीय कार्य के लिए व्यक्तिगत रूप से भी उत्तरदायी होता है। भारत में मंत्रियों को दिए जाने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण विभाग –गृह, विदेश, वित्त, उद्योग, कृषि आदि हैं। हर मंत्री अपने विभाग की नीतियों और कार्यों के लिए उत्तदायी होता है। मंत्री अपने विभागों के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होते हैं। मंत्रिमंडल के सामने वही विषय लाए जाते हैं जो राजनीतिक रूप में विवादास्पद हों। साधारण स्थिति में मंत्री अपने विभागों और संबंधित विषयों के बारे में निर्णय लेते हैं। वे इन विभागों के लिए पूर्णतया उत्तरदायी होते हैं। इस तरह मंत्रितयों का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार का होता है। यह उत्तरदायित्व विधायिका के प्रति होता है जहां विश्वास खो देने पर प्रधान मंत्री और मंत्रियों के पास एक महत्त्वपूर्ण अधिकार यह होता है कि वह विधायिका की अवधि पूरी होने से पहले ही उसे विघटित करने की सिफारिश कर सकते हैं।

संसदीय व्यवस्था उत्तरदायी सरकार सुनिश्चित करती है और उसके लिए पूरी सावधानी बरतती है। यह विधायिका के प्रति उत्तरदायित्व के माध्यम से होता है, जो अंतत: लोकमत पर आधारित होता है। इस कड़ी के अभाव में मंत्री और प्रधानमंत्री तानाशाही तरीके अपना सकते हैं। विधायी उत्तरदायित्व सरकारी विभाग की नीतियों और कार्य पर प्रभावकारी नियंत्रण रखते हैं।

अध्यक्षीय व्यवस्था

यह व्यवस्था विधायी और कार्यकारी सत्ताओं के पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित है। हम अमेरिका का उदाहरण लें जहां राष्ट्रपति और विधायिका, जिसे कांग्रेस कहते हैं, इन दोनों का चुनाव अलग-अलग होता है। कांग्रेस के दो सदनों, प्रतिनिधि सभा और सीनेट, का चुनाव विभिन्न निर्वाचन सिद्धांतों के आधार पर और अलग अवधि के लिए होता है। राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए होता है और वह जनता से सीधी वैधता प्राप्त करता है। राष्ट्रपति विधायिका का सदस्य नहीं होता। राष्ट्रपति और कांग्रेस एक दूसरे से पृथक् रूप से कार्य करते हैं। राष्ट्रपति के कार्य पर विधायिका का कोई नियंत्रण नहीं होता और सामान्य रूप से वह राष्ट्रपति को पद से हटा भी नहीं सकती है। ऐसा पदच्युति के अंतिम तरीके, महाभियोग से ही हो सकता है। राष्ट्रपति विधायिका के दोनों सदनों को संबोधित करता है और अगर चाहे तो, संदेश भेज सकता है, लेकिन वह कांग्रेस को विघटित नहीं कर सकता।

अमेरिका का राष्ट्रपति परामर्श देने के लिए एक मंत्रिमंडल का गठन करता है। ये विधायिका के सदस्य नहीं होते। अगर कोई विधायक मंत्रीपद के लिए चुना जाता है, तो उसे विधायिका से त्यागपत्र देना पड़ता है। मंत्रिपरिषद के सदस्य कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। वे पूर्णतया राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

सरकार और राज्य के प्रधानों में कोई भेद नहीं होता, राष्ट्रपति के पद में ही दोनों सम्मिलित होते हैं। विधायिका में बहुमत दल के आधार पर कार्यपालिका की नियुक्ति के बारे में स्वनिर्णय का कोई प्रश्न ही नहीं।

सत्ता के पृथक्करण का सिद्धांत सरकार के तीन अंगों को भिन्न और स्वतंत्र रखता है। लेकिन अगर इस सिद्धांत का अक्षरशः पालन किया जाए तो सरकार के काम में बाधा पड़ेगी। एक ही सरकार के अंग होने के कारण उनके कार्यों से समन्वय आवश्यक है। इनमें से किसी को दूसरे अंगों को ध्यान में रखे बगैर, अपने निर्णय को लागू करने का असीमित अधिकार नहीं होना चाहिए। ऐसा होने से तीनों अंग एक दूसरे के विरुद्ध काम कर सकते हैं। उनमें संघर्ष की स्थिति भी हो सकती है। इसीलिए संविधान में सत्ता के पृथक्करण को बहुत कठोर नहीं होने दिया जाता है। सत्ता को पृथक तो किया जाता है लेकिन

संस्थाओं के बीच मिलने वाली कड़ियां भी होती हैं जिससे वे एक दूसरे पर नियंत्रण रख सकें और उनके काम में समन्वय हो सके। इसको नियंत्रण और संतुलन की व्यवस्था (checks and balances) कहते हैं। इस प्रकार के प्रावधान अमेरिका के संविधान में पाये जाते हैं। कांग्रेस का द्वितीय सदन, सिनेट, राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों का अनुमोदन करता है। इस तरह कार्यपालिका के कार्य में उसका कुछ अधिकार है। राष्ट्रपति को विधायिका द्वारा पारित विधयेक पर निशेषाधिकार भी प्राप्त है, जिससे कांग्रेस के कार्यों में राष्ट्रपति का नियंत्रण बना रहता है। जिस विधेयक पर राष्ट्रपति अपना निशेषाधिकार का प्रयोग करता है, वह अगर कांग्रेस द्वारा दो तिहाई बहुमत से पुनः पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति की स्वीकृति के बगैर भी कानून मान लिया जाता है। न्यायाधीशों की पदावधि पूरे जीवन की होती है, लेकिन उन्हें पदच्युत किया जा सकता है। संविधान एक स्वतंत्र न्यायपालिका का प्रावधान करता है, लेकिन न्यायाधीशों की संख्या और उनका वेतन विधायिका द्वारा निर्धारित किया जाता है। इसी प्रकार राष्ट्रपति दूसरे देशों के साथ संधि वार्ता कर सकता है, लेकिन सिनेट द्वारा दो-तिहाई बहुमत से उनका अनुमोदन आवश्यक है। इस तरह कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के पृथक अधिकार हैं, लेकिन वे एक दूसरे के कार्य पर नियंत्रण रखते हैं और संतुलन बनाए रखते हैं।

भारत और फ्रांस का उदाहरण

संसदीय और अध्यक्षीय सरकारों के जिन लक्षणों की चर्चा ऊपर की गई है, वे उनके शुद्ध स्वरूप के लक्षण हैं। कुछ ऐसे देश हैं जिनमें निर्वाचित राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री दोनों पदों का प्रावधान है। भारत और फ्रांस ऐसे ही उदाहरण हैं। भारत में प्रधानमंत्री का पद अधिक शक्तिशाली बनाया गया है और फ्रांस का संविधान राष्ट्रपति के पद को अधिक महत्वपूर्ण मानता है।

ब्रिटेन के प्रतिमान (Model) पर आधारित भारत की सरकार-व्यवस्था राष्ट्रपति को राज्य का प्रधान मानती है। यह विधायिका में बहुमत दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करता है। लेकिन राष्ट्रपति का निर्वाचन, केंद्र और राज्यों के निर्वाचित विधायकों द्वारा होता है। भारत का राष्ट्रपति एक सांविधानिक प्रधान बन कर रह जाता है और सत्ता प्रधानमंत्री के हाथ में होती है, जिसका प्रयोग वह संसद में बहुमत दल के नेता होने के कारण करता है। राष्ट्रपति के चुनाव के लिए निर्वाचक मंडल (Electoral College) विधायकों द्वारा संगठित होती है, जिसके लिए दलों की स्थिति महत्वपूर्ण है। राज्याध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति के अधिकार महत्वपूर्ण मालूम पड़ते हैं, लेकिन प्रधानमंत्री की राजनीतिक स्थिति के कारण वास्तविक सत्ता उसी के पास होती है।

फ्रांस की व्यवस्था भिन्न है। अक्तूबर 1946 ई. के चतुर्थ गणराज्य (Fourth Republic) के अंतर्गत बनी सरकार काफी समय तक अस्थाई रही। 1958 ई. में चार्ल्स डी गाल के नेतृत्व में सशक्त परिवर्तन द्वारा पांचवे गणराज्य (Fifth Republic) की स्थापना हुई। इस संविधान में राष्ट्रपति के चुनाव के लिए एक बड़े निर्वाचक मंडल का गठन हुआ, जिसके सदस्य, सांसद नहीं, स्थानीय पार्षद होते थे। 1962 ई. में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि राष्ट्रपति के प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गई। वह प्रधानमंत्री को मनोनीत करता है, जो मंत्री-परिषद् की स्थापना करता है। वे विधायिका के सदस्य नहीं हो सकते। अगर वे विधायक होते हैं तो उन्हें विधायिका से त्यागपत्र देना पड़ता है। मंत्रिपरिषद का सभापतित्व राष्ट्रपति करता है। यही सरकार के निर्णयों का मुख्य स्रोत भी होता है।

प्रधानमंत्री और अन्य मंत्रियों का विधायिका से कोई सीधा संबंध नहीं होता, जो उन्हें उस प्रकार का महत्व दे सके जो एक संसदीय व्यवस्था में दिया जाता है। एक प्रभावशाली कार्यपालिका स्थापित करने के प्रयास में, फ्रांस की विधायिका एक कमजोर संस्था बन कर रह गई है। वास्तविक सत्ता राष्ट्रपति के हाथों में है।

इस प्रकार की व्यवस्था के लिए राज्याध्यक्ष और सरकार के प्रधान, राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बीच उचित संतुलन रखना पड़ता है। इन दो संस्थाओं की सांविधानिक स्थिति और सत्ता देशों के राजनीतिक अनुभव पर निर्भर करती है। वास्तविक कार्य में राजनीतिक प्रक्रिया के कारण, उनके तुलनात्मक सत्ता के विषय में समय-समय पर विवाद होते रहते हैं।

> कुछ व्यक्ति भारत में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का समर्थन करते हैं। इस समर्थन के पीछे दिए जाने वाले तर्कों एवं तथ्यों का पता लगाइए।

गुण और दोष

संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका और विधायिका में अच्छा समन्वय रहता है। जिस दल का विधायिका में बहुमत होता है, उसका नेता प्रधानमंत्री होने के नाते कार्यपालिका पर अधिकार रखता है। वास्तव में विधायी-प्रक्रिया पर कार्यपालिका का नियंत्रण होता है। यह व्यवस्था दोनों संस्थाओं के निर्विघ्न रूप में काम करने में सहायता करती है। लेकिन साथ ही इससे कार्यपालिका संबंधी और विधायी सत्ता का केंद्रीकरण भी होता है। कार्यपालिका के कार्य पर विधायिका का सीमित नियंत्रण नियंत्रण होता है। अध्यक्षीय व्यवस्था के सत्ता के पृथक्करण के सिद्धांत के अंतर्गत दोनों संस्थाओं का एक-दूसरे पर नियंत्रण होता है। इस व्यवस्था में विधायिका और राष्ट्रपति के बीच संघर्ष की स्थिति भी हो सकती है।

निर्वाचन के बाद, अध्यक्षीय व्यवस्था में, राष्ट्रपति निर्विघ्न रूप से अपनी अवधि तक पद पर बना रह सकता है। इस बीच उसके लोकनियंत्रण का कोई प्रावधान नहीं है। संसदीय व्यवस्था में विधायिका के साथ संबंध होने से, वह अधिक संवेदनशील बना रहता है। मंत्री विधायिका के कार्यों में भाग लेते हैं, उन्हें विधायिका के सामने प्रतिदिन सरकारी नीतियों के बारे में सफाई देनी पड़ती है। वे संसदीय वादविवादों में उपस्थित रहते हैं। विधायक होने के नाते उनका अपने चुनाव-क्षेत्र से सतत् संपर्क भी बना रहता है। दूसरी ओर अध्यक्षीय व्यवस्था में कार्यपालिका और विधायिका में इस प्रकार का पारस्परिक संपर्क नहीं होता।

संसदीय व्यवस्था में मंत्री पद संभालने से पहले ही नेताओं को प्रशिक्षण मिल जाता है। इस प्रकार का प्रशिक्षण उन्हें विधायिका और कार्यपालिका के संबंधों के आधार पर मिलता है। सामूहिक उत्तरदायित्व यह सुनिश्चित करता है कि सत्ता और उत्तरदायित्व मंत्रियों के एक समूह में निहित हों और विधायिका के प्रति अंतिम रूप से और सतत् उत्तरदायी रहे। अध्यक्षीय व्यवस्था में कार्यपालिका-सत्ता एक व्यक्ति में निहित होती है, जिस पर विधायिका का नियंत्रण नहीं के बराबर होता है। अध्यक्षीय व्यवस्था के सत्तावादी शासन में बदलने की अधिक संभावना होती है। इस व्यवस्था का दूसरा पक्ष यह है कि इसमें निर्णय जल्दी लिए जा सकते हैं। इसका कारण यह कि निर्णय एक ही व्यक्ति को लेना होता है और वही उसके लिए उत्तरदायी भी होता है। संसदीय व्यवस्था में यह प्रक्रिया कुछ बिखरी सी होती है और निर्णय लेने में अधिक समय लग जाता है।

दोनों ही व्यवस्थाओं में कार्यपालिका एक निश्चित अवधि के लिए चुनी जाती है। ब्रिटेन और भारत के प्रधानमंत्री पांच वर्षों के लिए चुने जाते हैं और अमेरिका के राष्ट्रपति की अवधि चार वर्षों की होती है। ऐसी स्थिति आ सकती है जब इस अवधि के अंतर्गत ही नेतृत्व का परिवर्तन आवश्यक हो जाए। इसके लिए युक्तिसंगत् राजनीतिक कारण हो सकते हैं। संसदीय व्यवस्था में इस प्रकार का परिवर्तन विधायिका में बहुमत सिद्ध करने के सामान्य क्रम में संभव है। अध्यक्षीय व्यवस्था में यह परिवर्तन निर्विघ्न रूप में नहीं हो पाता। संविधान में पदच्युति का प्रावधान होता है, लेकिन यह एक अंतिम कदम है और अक्सर इसकी कार्यविधि जटिल और कठिन होती है। अध्यक्षीय व्यवस्था में नेतृत्व का परिवर्तन अवधि के बीच में सामान्य क्रम में नहीं हो सकता।

पदावधि की निश्चितता का सकारात्मक पक्ष भी है। इससे स्थायी सरकार की स्थापना होती है। एक बार चुन लिए जाने पर राष्ट्रपति बगैर किसी अनुचित हस्तक्षेप के, राजनीतिक निर्णयों पर अपना ध्यान दे सकता है। संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका का ध्यान और समय अपना विधायी बहुमत बनाए रखने में लगा रहता है। वे अक्सर ऐसे निर्णय नहीं ले पाते जिसमें समाज के किसी समूह द्वारा प्रतिवाद की संभावना रहती है। सत्ताधारी दल को, संसद में कम बहुमत होने की स्थिति में संसदीय सरकार के अस्थायी होने की संभावना रहती है और बार-बार परिवर्तन हो सकता है। ऐसा उन देशों में होता है जहाँ बहुदलीय व्यवस्था है और मतैक्य कम मात्रा में है। यह तर्क अक्सर दिया जाता है कि अध्यक्षीय सरकार मज़बूत और प्रभावकारी होती है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को बदल कर एक अध्यक्षीय व्यवस्था बनाने का सुझाव इसी आधार पर दिया जाता है।

सरकार के दो स्वरूपों की क्षमताओं और कमज़ोरियों की जो चर्चा ऊपर की गई है उसमें मुख्यतः सांविधानिक और कानूनी पक्ष पर ध्यान दिया गया है। इसका एक अधिक महत्वपूर्ण पक्ष है राजनीतिक प्रक्रिया और राजनीतिक दल जैसी संस्थाओं का कार्य। देश में राजनीतिक परिपक्वता की मात्रा भी दोनों प्रकार के सरकारों के कार्य को निर्धारित करती है। ब्रिटेन और अमेरिका में जिस प्रकार की द्विदलीय व्यवस्था का

का विकास हुआ, उसका प्रभाव उन देशों की संसदीय और अध्यक्षीय व्यवस्थाओं पर पड़ा है। अन्य देशों में जहां राजनीतिक बहुमत स्पष्ट नहीं रहा है, वहां संसदीय व्यवस्था स्थायी सरकार नहीं दे पाई है। फ्रांस इसका एक अच्छा उदाहरण है। चार्ल्स द गाल के नेतृत्व में पांचवे गणतंत्र में फ्रांस के राष्ट्रपति के पद को अधिक शक्तिशाली बनाया गया। भारत में बहुत से दल होने के बावजूद, कांग्रेस की विचारधारा पर आमतौर पर मतैक्य रही है। केंद्र में 1977 ई.–1980 ई. और कुछ राज्यों में 1967 ई.–1969 ई. की अवधि को छोड़ कर, भारत में संसदीय व्यवस्था संतोषजनक रूप से कार्य करती रही है। इस तरह संसदीय और अध्यक्षीय व्यवस्थाओं के कार्य को समझने के लिए आवश्यक है कि हम देश की राजनीतिक पृष्ठभूमि और राजनीतिक दलों के कार्य को अच्छी तरह समझ लें।

कार्यपालिका के नेतृत्व की प्रवृत्ति

वर्तमान समय में सरकार के कार्यपालिका प्रधान की प्रमुख भूमिका मानी जाती है। ब्रिटेन और अमेरिका जैसी पुरानी राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक प्रक्रिया के प्रवाह के परिणाम स्वरूप ऐसा हुआ। फ्रांस जैसे अन्य देशों में एक सशक्त कार्यपालिका की आवश्यकता का अनुभव किया गया और संविधान में उसकी व्यवस्था की गई।

ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था वास्तविक रूप में प्रधान मंत्री व्यवस्था में परिणत हो गई है। प्रधान मंत्री और मंत्रिमंडल पूरी राजनीतिक व्यवस्था का केंद्र बिंदु बन गया है। विधि निर्माण की संपूर्ण प्रक्रिया बहुमत वाले दल के नियंत्रण में होती है, जिसका प्रतिनिधि प्रधान मंत्री और मंत्रिपरिषद को माना जाता है। 1920 ई. के दशक में जेम्स बी. ब्राइस ने अपनी पुस्तक "मार्डन डेमोक्रेसीज", में "विधायिका के ह्रास" की चर्चा की थी। दूसरे शब्दों में के.सी. ह्वीयर इसे "कार्यपालिका की सत्ता में महान वृद्धि" कहते है, जिसका मुख्य कारण है आधुनिक राज्य के कार्यों का प्रसार। आर्थिक योजना जैसे कार्य राज्य के कामों में सम्मिलित हो गए हैं जिसमें कार्यपालिका को सशक्त कार्यवाही की आवश्यकता होती है। इन कार्यों के औद्योगिक और तकनीकी पक्ष को संभालने के लिए कुछ विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। विधि निर्माण (Delegated legislation) का बढ़ता हुआ प्रयोग, कार्यपालिका को और सशक्त बना देता है। अंतरराष्ट्रीय स्थिति से देशों की सुरक्षा नीति को जो महत्व मिलता है, उससे भी कार्यपालिका के प्रभाव में वृद्धि हुई हैं।

अध्यक्षीय व्यवस्था स्पष्टतः एक व्यक्ति के नेतृत्व पर आधारित है। संसदीय व्यवस्था एक समूह के नेतृत्व पर बल देती है, लेकिन उसमें भी प्रधान मंत्री का पद अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है। आम चुनाव के समय प्रधान मंत्री के पद के लिए प्रतियोगी उम्मीदवार एक मुख्य विषय होते हैं। हर चुनाव एक तरह से जनमत संग्रह का रूप ले लेता है। ऐसा सिर्फ ब्रिटेन में ही नहीं, भारत में भी होता है। पं. जवाहरलाल नेहरु, श्रीमती इंन्दिरा गांधी और अभी हाल में, श्री राजीव गांधी का नेतृत्व आम चुनावों में सबसे महत्वपूर्ण विषय रहा है।

तीसरी दुनिया के देश विकास की प्रक्रिया और प्रजातंत्र दोनों ही आदर्शों के प्रति सजग हैं। वे एक ऐसी कार्यपालिका चाहते हैं जो सशक्त, प्रभावकारी और साथ ही सीमित भी हो। इसलिए ऐसे बहुत से देश अध्यक्षीय व्यवस्था की ओर आकर्षित होते हैं।

कुछ करने को

कक्षा को दो समूहों में बाँट लीजिए। विद्यार्थियों का एक समूह भारत में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का समर्थन करे। दूसरा वर्तमान संसदात्मक व्यवस्था का समर्थन करे। छात्रों को पहले से ही बता दिया जाए कि वे इस विषय पर वाद विवाद के लिए तैयार रहें।

अध्यापक के निर्देशन में इस विषय पर कक्षा में वाद विवाद की एक प्रतियोगिता आयोजित की जाए।

अभ्यास

1. संसदीय प्रणाली से क्या अभिप्राय है? इसकी प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।
2. अध्यक्षीय प्रणाली किसे कहते हैं? इसकी मुख्य विशेषताएँ लिखो।
3. संसदीय तथा अध्यक्षीय प्रणालियों में से कौन सी श्रेष्ठतर है और क्यों?
4. भारत द्वारा संसदीय प्रणाली को अपनाये जाने के कारण बताइए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
   (क) सामूहिक उत्तरदायित्व
   (ख) व्यक्तिगत उत्तरदायित्व
   (ग) शक्तियों का पृथक्करण
   (घ) नियंत्रण एवं सन्तुलन
   (ङ) सांविधानिक अध्यक्ष

अध्याय 8

एकात्मक और संघात्मक सरकार

सरकार अपने अधिकार का प्रयोग एक निश्चित भूभाग पर करती है। यह भूभाग आकार में बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी। सरकार का एकात्मक और संघात्मक स्वरूप इस पर निर्भर करता है कि केंद्रीय सरकार, जिसका अधिकार क्षेत्र पूरे भूभाग पर है, और क्षेत्रीय इकाइयों के सरकारों के बीच क्या संबंध हैं। एकात्मक व्यवस्था में क्षेत्रीय इकाइयाँ केंद्रीय सरकार के अधीन होती हैं। संघीय व्यवस्था में कोई किसी के अधीनस्थ नहीं होता और केंद्रीय और क्षेत्रीय सरकार एक दूसरे के समकक्ष होती हैं। एक तीसरी व्यवस्था होती है परिसंघ (confederation), जिसमें केंद्रीय सरकार क्षेत्रीय सरकार के अधीन होती है। एकात्मक और संघात्मक सरकारों में भेद सत्ता के क्षेत्रीय विभाजन के आधार पर होता है।

एकात्मक सरकार

इस व्यवस्था में सरकार का एक ही स्रोत होता है, जिसका अधिकार पूरे समाज पर होता है। प्रशासकीय सुविधा और सुगमता के लिए भूभाग को छोटी इकाइयों में बाँट दिया जाता है, जहां की सरकार के वही सीमित अधिकार होते हैं जिन्हें केंद्रीय सरकार निर्धारित करती है। ब्रिटेन के "काउंटी" और फ्रांस के "डिपार्टमेंट" इस तरह के स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों के अच्छे उदाहरण हैं, जो केवल प्रदत्त (delegated) अधिकारों का प्रयोग कर सकते हैं। वास्तविक सत्ता सरकार की उस केंद्रीय इकाई में निहित होती है जो यह निर्धारित करती है कि स्थानीय शासन के कार्य और अधिकार क्या हों। स्थानीय संस्थाएं केंद्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करती हैं। केंद्रीय सरकार उनका अधिकार कम या ज्यादा कर सकती है, और चाहे तो छीन भी सकती है। केंद्रीय सरकार इन संस्थाओं का निर्माण भी कर सकती है, और आवश्यकता पड़ने पर समाप्त भी कर सकती है। स्थानीय संस्थाओं का केंद्रीय सरकार से अलग कोई अस्तित्व नहीं होता।

> एकात्मक शासन प्रणाली वाले देशों की एक सूची तैयार कीजिए।

संघीय सरकार

इस व्यवस्था में सरकार के दो स्तर होते हैं–केंद्रीय स्तर और इकाइयों का स्तर। इकाइयां केंद्र के अधीन नहीं होतीं। दोनों के अधिकारों का स्रोत एक ही होता है और वह है लिखित संविधान, जो देश का सर्वोच्च कानून होता है। संविधान के द्वारा ही केंद्र और इकाइयों के अधिकार-क्षेत्र का निर्धारण होता है। विभिन्न संघों में सत्ता का संतुलन विभिन्न प्रकार का है। अमेरिका के संविधान में इकाइयों (राज्यों) को अधिक महत्व दिया गया है, और कनाडा का संविधान सशक्त संघ (केंद्र) की स्थापना करता है। भारतीय संविधान में केंद्र और राज्यों के विधायी अधिकार तीन सूचियों में विभक्त किए गए हैं: संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। पहले दो सूचियों में वे विषय दिए गए हैं, जिन पर क्रमशः केंद्रीय संसद और राज्य विधायिका कानून बना सकती हैं। समवर्ती सूची के विषयों पर दोनों स्तर की विधायिकाओं का "समवर्ती" अधिकार

होता है। अधिकारों के इस बंटवारे के अतिरिक्त भारतीय संविधान के कुछ अन्य प्रावधान ऐसे हैं जो केंद्र को अधिक शक्तिशाली बनाते हैं। इस तरह संघीय व्यवस्थाओं में सत्ता का विभाजन तो होता है, लेकिन सत्ता का संतुलन विभिन्न प्रकार का होता है। यह संतुलन संघ बनने से पहले की ऐतिहासिक प्रक्रिया पर निर्भर करता है।

परिसंघीय सरकार

स्वतंत्र राज्य किसी विशेष प्रयोजन के लिए संघ बना सकते हैं। इस तरह के संघ में केंद्रीय सरकार का अधिकार क्षेत्र सीमित होता है। स्विट्ज़रलैंड इस तरह का परिसंघ है, जहां के कैंटॉन को अधिक अधिकार प्राप्त हैं। मार्च 1957 ई. में रोम की संधि के परिणाम स्वरूप यूरोपीय आर्थिक समुदाय (जिसे यूरोपियन कामन मार्केट कहते हैं) का निर्माण हुआ। व्यापारिक दृष्टि से समृद्ध एक विशाल क्षेत्र के 12 देश इसके सदस्य हैं जिन्हें इस संन्धि के अंतर्गत कुछ अधिकार प्राप्त हैं। कम्युनिस्ट फारम फार म्युचुयल इकानोमिक एसिसटेंस (कामेकोन) भी कुछ देशों का ऐसा ही एक परिसंघ है। ऐसे और भी कई संगठन हैं, जिसमें किसी विशेष क्षेत्र के या किसी विचारधारा के देश किसी खास सहकारी कार्य के लिए परिसंघ बना लेते हैं।

परिसंघीय व्यवस्था को प्रायः पूर्ण विकसित संघीय व्यवस्था का पूर्वरूप माना जाता है। जो देश किसी सीमित प्रयोजन से संघ बनाते हैं वे अपने अधिकार सम्मिलित सरकार को समर्पित करने में सावधानी दिखाते हैं। उदाहरणस्वरूप, आरंभिक 13 राज्यों ने अमेरिका में परिसंघ के निर्माण का निर्णय लिया और अंत में 1787 ई. के संविधान द्वारा इसे संघीय प्रणाली मे परिवर्तित कर दिया। अतः परिसंघीय व्यवस्था को अक्सर संघ का परिवर्ती माना जाता है।

संघीय सरकार के निर्माण एवं संगठन के लिए अनेक तत्व उत्तरदायी होते हैं। जैसे, किन कारणों से छोटी इकाइयां आपस में मिलती हैं या बड़ी इकाइयां छोटी इकाइयों में बंटती है? किन स्थितियों में संघों की स्थापना होती है? संघीय संगठन को समझने के लिये इन विषयों पर विचार महत्वपूर्ण हैं।

कुछ राज्य बाहरी शक्तियों से आशंका और दूसरे राज्यों द्वारा आक्रमण के भय के कारण, आपसी विलय का निर्णय ले लेते हैं। स्विट्ज़रलैंड का संघ 1848 ई. में बना। उससे पहले यह प्रदेश तेरहवीं शताब्दी से लगातार पड़ोसी देशों से आतंकित रहता था। कई अवसरों पर आक्रमण की आशंकाएं वास्तविकता में बदल गईं और यही संघीय व्यवस्था का आधार बन गया। राष्ट्रीयता संघों के आविर्भाव का एक महत्वपूर्ण कारण रहा है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण तत्व हैं : किसी सामूहिक लक्ष्य प्राप्ति के लिए साथ होना, एक सामूहिक संस्कृति, एक सम्मिलित परंपरा की भावना आदि। कुछ भौगोलिक इकाइयां और उनमें निवास करने वाले लोगों के कुछ समूह पृथक दीखते हुए भी उपरोक्त कारणों से एकीकरण की भावना से प्रेरित हो सकते हैं। यह भावना भी संघ के निर्माण का आधार बन जाती है। बीसवीं शताब्दी में उपनिवेशवादी शासन से मुक्त होने वाले तीसरी दुनियाँ के बहुत से देशों में स्वतंत्रता संग्राम के दौरान राष्ट्रीयता की भावना जागी। ऐसे कुछ संग्राम काफी दिनों तक चले और इसी समय में लोग अपनी संस्कृति और परंपरा के बारे में सतर्क हुए और उनमें सामूहिक गौरव की भावना आई। भारत में स्वतंत्रता संग्राम के दौरान विभिन्न क्षेत्रों, धर्मों और भाषा बोलने वालों में राष्ट्रीयता की भावना आई। इस एकीकरण की भावना के साथ ही विभिन्नताएं इतनी महत्त्वपूर्ण थीं कि संघीय शासन उपयोगी माना गया।

संघ या परिसंघ का निर्माण करने वाली इकाइयाँ कभी-कभी आर्थिक कारणों से भी प्रेरित होती हैं। सम्मिलित हो जाने से अनेक महत्त्वपूर्ण आर्थिक लाभ होते हैं। कुछ लेखकों ने सरकार के स्वरूप के "आर्थिक आधार" की चर्चा की है। यूरोपीय आर्थिक समुदाय (E. E. C.) और (CMECON) जैसी कुछ संस्थाओं का मुख्य ध्येय आर्थिक सहयोग ही है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद उपनिवेशवादी साम्राज्यों के विघटन के बाद जो देश बने उनमें से बहुतों ने संघीय व्यवस्था को अपनाया है। ये देश विश्व के विभिन्न भागों, एशिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, मध्यपूर्व और करेबियन द्वीप समूह में हैं। ये क्षेत्र विभिन्न देशों के उपनिवेश थे। इनमें बहुत से क्षेत्रों का उपनिवेशवादी शासन के दौरान ही एकीकरण कर दिया गया। अपने अधिकारक्षेत्र का और आर्थिक विस्तार करने के प्रयास में, विभिन्न प्रदेशों को एक उपनिवेशवादी शासन के ही अधीन कर दिया गया। ये मुख्यतः प्रशासनिक इकाइयाँ थीं और विभिन्न प्रकार के क्षेत्र इनके अंतर्गत थे। विभिन्न जाति, धर्म, भाषा और संस्कृति के लोग प्रशासनिक कारणों से एकता के सूत्र में बंध गए। विभिन्न उपनिवेशवादी राज्यों के

विस्तार में ऐसा भी हुआ कि एक ही प्रदेश विभिन्न साम्राज्यों के अधिकार में आकर बंट गया। भारतीय भूखंड पर सिर्फ ब्रिटेन का अधिकार नहीं था। इसके कुछ प्रदेश फ्रांस और पुर्तगाल के अधिकार में भी थे। इनमें से कुछ तो ब्रिटिश साम्राज्य की समाप्ति के बाद भी बने रहे। उपनिवेशवादी प्रशासन के संगठन के लिये भी क्षेत्रों की विभिन्नताओं को स्वीकार किया गया। एक उपनिवेश के लोगों ने जब स्वतंत्रता संग्राम शुरु किया तो उन्होंने संघीय व्यवस्था को ही स्वाभाविक व्यवस्था मान लिया। बहुत से देशों में उपनिवेशवादी सरकारों ने ही देश के प्रशासन में उचित हिस्सा लेने के लिए बेचैन समूहों के दबाव का अनुभव किया और अपने प्रशासन में एक प्रकार की संघीय व्यवस्था स्वीकार की। उपनिवेशवादी शासन के अंतिम चरणों में कई देशों की सरकारों ने ही संघीय व्यवस्था की शुरूआत कर दी। ऐसा भी हुआ कि उपनिवेशवादी शासन और राष्ट्रवादी संग्राम के नेताओं के बीच वार्ता के दौरान संघीय व्यवस्था को अपनाने पर सहमति हो गई। भारतीय संघीय व्यवस्था का मूल ढांचा 1935 ई० में ही लागू किया गया था। इस प्रक्रिया से और जिन देशों में संघीय व्यवस्था की स्थापना हुई वे हैं : मलाया, नाइजीरिया, वेस्टइंडीज और इंडोनेशिया। ये विभिन्न उपननिवेशवादी साम्राज्यों के अधीन थे। संघीय व्यवस्था राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रीय राजनीतिक दल के संगठन में भी परिलक्षित होती थी, जैसे भारत में कांग्रेस पार्टी का संगठन। जब ये देश स्वतंत्र हुए तो इनमें से बहुतों ने स्वाभाविक रूप से संघीय व्यवस्था को अपना लिया। नव स्वतंत्र राज्यों के लिए इस तरह एकता और विभिन्नता के विपरीत तत्वों का सम्मिश्रण संभव हुआ।

> भारतीय संविधान द्वारा भारत के किस राज्य को विशिष्ट दर्जा दिया गया है और क्यों?

संघीय व्यवस्था की विशेषताएं

संघीय व्यवस्था में सरकार के दो स्तर होते हैं : एक सरकार जिसका अधिकार क्षेत्र पूरे भूभाग पर होता है, जिसमें सभी इकाइयां सम्मिलित होती हैं और दूसरा प्रत्येक इकाई की सरकार जिसका अधिकार क्षेत्र उस इकाई तक ही सीमित होता है। भारत में पहले को "केंद्रीय" या "संघीय सरकार" कहते हैं, और दूसरे को राज्य सरकार। भारत में केंद्रीय सरकार के अतिरिक्त 25 राज्यों की अपनी-अपनी सरकार है। अन्य संघों में भी ऐसा ही है, जैसे अमरिका के 50 राज्य, कनाडा के 10 प्राविंस, आस्ट्रेलिया के राज्य और सोवियत संघ के यूनियन रिपब्लिक, आटोनामस रिपब्लिक और आटोनामस रीजन। संघीय संविधानों के लिए इन दोनों स्तरों के बीच शक्ति का विभाजन एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी तरह से इस विभाजन की रूपरेखा बनाई है।

इन दोनों स्तरों की सरकार एक साथ ही काम करती हैं। इसलिए इनके अधिकार और कार्य का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक है। प्रथा और परंपरा महत्त्वपूर्ण तो हैं, लेकिन अधिकार का विभाजन समय और सुविधा पर नहीं छोड़ा जा सकता। इसके लिए एक लिखित संविधान की आवश्यकता होती है जिसमें सत्ता विभाजन के सिद्धांत और दोनों स्तरों की सरकार के कार्यों का स्पष्ट उल्लेख हो। भारतीय संविधान में केंद्र और राज्य के बीच कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका संबंधी अधिकारों के बंटवारे की व्यवस्था है। विधायिका संबंधी विषय संविधान की सातवीं अनुसूची में दिए गए हैं, जिसमें संघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची में क्रमशः 97, 66, और 47 विषयों का वर्णन किया गया है। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि दोनों ही स्तरों की सरकारों के अधिकारों का स्रोत संविधान ही है।

संघीय व्यवस्था में सरकार की विभिन्न इकाइयों के क्षेत्र और अधिकार का संविधान एक कानूनी दस्तावेज होता है। ऐसी स्थिति आ सकती है जब सरकारें अपने अधिकारों की व्याख्या अलग-अलग ढंग से करें। विभिन्न स्तर की सरकारों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। अतः किसी एक ऐसी संस्था की आवश्यकता होती है जो संविधान की प्रामाणिक व्याख्या कर सके, जिसकी सभी सरकारों के लिए बाध्यता हो। यह कार्य स्वतंत्र न्यायपालिका द्वारा किया जाता है। न्यायपालिका के कार्य और अधिकार संविधान में दिए होते हैं और उसी के द्वारा उसकी व्याख्या की सरकारों पर बाध्यता होती है। उसके संगठन, अधिकारों और कार्यों की परिभाषा इस तरह की जाती है कि न्यायपालिका सरकार की अन्य शाखाओं से और तत्कालीन सत्ता में जो सरकार है, उसके प्रभाव से स्वतंत्र रहे।

राष्ट्र की एकता और क्षेत्रीय इकाइयों की विविधता, ये दोनों सिद्धांत संघों में विभिन्न रूप से परिलक्षित होते हैं। कुछ संघीय

व्यवस्थाओं में नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्रदान की जाती है — एक देश की, और दूसरी क्षेत्र की। अमेरिका का प्रत्येक नागरिक साथ ही किसी राज्य का भी नागरिक होता है। भारत जैसे अन्य संघों में इकहरी नागरिकता का सिद्धांत माना जाता है।

सरकार के दो स्तर केंद्रीय विधायिका के प्रतिनिधित्व के सिद्धांत में भी लक्षित होते हैं। विधायिका का एक सदन पूरे देश का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा सदन क्षेत्रीय इकाइयों का। अमेरिका में कांग्रेस के निम्न सदन, प्रतिनिधि सभा, में पूरे देश से चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं तथा उच्च सदन, सिनेट, के संगठन के लिए हर एक राज्य को एक ही दर्जा और महत्व दिया जाता है, चाहे उसका क्षेत्रफल और जनसंख्या कुछ भी क्यों न हो। हर एक राज्य सेनेट के लिए दो प्रतिनिधि चुनता है। स्विट्जरलैंड की कांउसिल आफ स्टेट्स कैंटनों का समान प्रतिनिधित्व करती है। सोवियत संघ में सुप्रीम सोवियत में दो सदन हैं। सोवियत आफ यूनियन के लिए जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधि चुने जाते हैं। करीब 300,000 की जनसंख्या के लिए एक प्रतिनिधि होता है। दूसरी ओर उच्च सदन सोवियत आफ नेशनालिटिज़ में हर यूनियन रिपब्लिक से 32, हर आटोनामस रिपब्लिक से 11, आटोनामस रीजन से 5 और आटोनामस एरिया में एक प्रतिनिधि भेजा जाता है। भारतीय संसद के दो सदन उसी सिद्धांत पर आधारित हैं। लोक सभा के सदस्य पूरे देश में निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। राज्य सभा राज्यों और संघीय प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करती है। उसके सदस्यों का निर्वाचन राज्य विधान सभाओं के प्रतिनिधियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से होता है। हर राज्य या संघीय प्रदेशों से चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या वहां की जनसंख्या के आधार पर निश्चित की जाती है। निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त, राष्ट्रपति 12 सदस्यों को राज्य सभा के लिए मनोनीत करता है। इन सदस्यों को साहित्य, कला, विज्ञान और समाज सेवा के क्षेत्रों में उनके विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव के लिए मनोनीत किया जाता है। इस प्रकार सामन्यतया संघीय विधायिका समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का अनुसरण करती है, लेकिन उनके संगठन में भिन्नता हो सकती है।

लिखित संविधान के लिए संशोधन की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह देश का सबसे महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। संघीय व्यवस्था की जिन विशेषताओं की व्याख्या पहले की गई है, उसका वर्णन संविधान में ही होता है। संघीय संविधान के संशोधन की किसी भी प्रक्रिया में इकाइयों की सुस्पष्ट भागीदारी आवश्यक मानी जाती है।

संघीय संतुलन

संघीय व्यवस्था के जिन मूल लक्षणों की व्याख्या ऊपर की गई है उससे संगठन के सिद्धांत की रूपरेखा का पता चलता है। केंद्र और इकाइयों को महत्व दिए जाने की दृष्टि से संघों में भिन्नताएं हैं। सरकार के दो स्तरों में शक्तियों का विभाजन विभिन्न प्रकार से किया गया है। अमेरिका में राज्यों को और भारतीय संविधान में केंद्र को अधिक महत्व दिया गया है। संघों के रूपों में भिन्नता के कई कारण हैं। संघीय व्यवस्था के आविर्भाव की ऐतिहासिक प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। जिन देशों में संघ की स्थापना का निर्णय इकाइयों द्वारा लिया जातां है, वहां इसका निर्णय भी इकाइयां ही लेती हैं कि केंद्र को कौन से अधिकार दिए जाएँ। दूसरी ओर, जहां संघ के निर्माण के लिए एक क्षेत्र को इकाइयों में बांट दिया जाता है वहां केंद्र यह निर्णय लेता है कि इकाइयों को क्या अधिकार दिए जाएँ। पहली स्थिति में पहल इकाइयों द्वारा की जाती है, और दूसरी स्थिति में केंद्र द्वारा। इन दोनों प्रक्रियाओं का उदाहरण अमेरिका और भारत में संघीय व्यवस्था की स्थापना है। 1787 ई० में अमेरिका के तेरह राज्यों ने संघीय व्यवस्था की स्थापना का निर्णय लिया और उसी के अनुसार वहां का संविधान बना। स्विट्जरलैंड में भी इसी प्रकार की प्रक्रिया अपनाई गई थी। भारत में केंद्रीय स्तर पर संघ स्थापित करने का निश्चय किया गया और देश को राज्यों में पृथक बांटा गया। राज्यों की सीमा में कई बार फेर-बदल किया गया है और समय-समय पर नए राज्यों की रचना भी की गई है।

संघ की सफलता के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ

संविधान केवल सरकार का ढांचा व्यवस्थित करता है। लेकिन संस्थाओं के वास्तविक कार्य में और बहुत से विषयों का भी प्रभाव पड़ता है।

संघ की विभिन्न इकाइयाँ एक दूसरे से भौगोलिक दृष्टि से अलग नहीं, अपितु वे एक दूसरे के समीप होनी चाहिए। दो ऐसे देश जहां इसकी वजह से कठिनाई आई है वे पाकिस्तान और वेस्टइंडीज़ हैं। पश्चिम और पूर्वी पाकिस्तान एक दूसरे से अलग थे और बीच में लगभग 19600 किलोमीटर का भारतीय

क्षेत्र था। जनवरी 1950 ई० में वेस्टइन्डीज़ में संघ की स्थापना हुई, जिसमें द्वीप या द्वीपसमूह सम्मिलित थे। इन दोनों देशों में संघीय व्यवस्था निर्विघ्न रूप से काम नहीं कर सकी। पूर्वी पाकिस्तान 1971 ई० में बंग्लादेश नाम का एक स्वतंत्र देश बन गया और 1962 ई० में जमैका और ट्रीनीडाड के हट जाने से कैरीबियन द्वीप समूह को संघीय प्रयोग समाप्त कर देना पड़ा। इसका यह अर्थ नहीं कि संघीय सरकार दूरस्थ प्रदेशों को संभाल नहीं सकती। ब्रिटिश कोलंबिया कनाडा का हिस्सा है और अमेरिका में अलास्का और हवाई के राज्य मुख्य भूभाग से अलग होने पर भी वहाँ के संघ में सम्मिलित हैं। महत्त्पवूर्ण बात यह है कि निर्माण के आरंभिक दौर में जब संघ की संस्थाएं अपनी जड़ें जमा रही हों, क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से सुसंबद्ध होना चाहिए।

एकता और विभिन्नता की शक्तियों का संतुलन भी महत्त्वपूर्ण है। संघों की स्थापना तभी होती है जब इकाइयों में भिन्नता होती है, लेकिन वे एक सरकार व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। ऐसी सरकार उसी स्थिति में सफल हो सकती है जब एकता की भावना सशक्त हो। इकाइयों में विभिन्नताओं के होते हुए भी कुछ ऐसे समान लक्षण होने चाहिए जिससे एकता की भावना को बल मिले। ऐसे बांधने वाले कुछ तत्व हैं : समान संस्कृति, भाषा और सामूहिक परंपरा। इस प्रक्रिया में राष्ट्रीयता की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। भारत में राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा समान लक्ष्य प्रदान किया और संघीय व्यवस्था उसका चरम बिन्दु बनी।

संघ बन जाने के बाद नीति निर्माण में इकाइयों की विभिन्नताओं का ध्यान रखना आवश्यक है। इकाइयां प्राय : आकार, जनसंख्या और आर्थिक प्रगति की दृष्टि से असमान होती हैं। इन असमानताओं के होते हुए भी इकाइयों को समानता की दृष्टि से देखना चाहिए। इस तरह की समानता विधायिका में प्रतिनिधित्व के सिद्धांत द्वारा देखने में आती है। सामाजिक-आर्थिक विकास के कार्यक्रमों में उन्हें महत्व देना आवश्यक है, जिससे कम विकसित क्षेत्रों मे किसी प्रकार से बंचित होने की भावना न रहे। संघीय व्यवस्था के अंतर्गत केंद्रीय सरकार को विभिन्न क्षेत्रों और इकाइयों में संतुलित विकास का विशेष ध्यान रखना पड़ता है।

संघीय व्यवस्था में न्यायपालिका का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह संविधान की संरक्षक होती है और संविधानिक प्रावधानों की प्रामाणिक व्याख्या उसका विशेष उत्तरदायित्व होता है। विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का हल निकालना भी उसका ही काम है। अत : संघीय व्यवस्था के लिए एक तटस्थ और स्वतंत्र न्यायपालिका महत्त्वपूर्ण है।

विधायिका का एक सदन संघीय इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है। अमेरिका की सीनेट, स्विट्जरलैंड की कांउसिल आफ स्टेट्स, सोवियत संघ में सोवियत आफ नेशनालिटिज, और भारत मे राज्य सभा, इस तरह की विधायी प्रतिनिधित्व का प्रावधान करती हैं। संघीय व्यवस्था में संतोषजनक प्रतिनिधित्व आवश्यक है, जिससे विधायिका के विचार विमर्श में इकाइयों का दृष्टिकोण परिलक्षित हो सके। कार्यपालिका के संगठन में भी अक्सर इसी तरह के संतुलन का प्रयास किया जाता है। भारत में केंद्रीय मंत्रिमंडल में विभिन्न क्षेत्रों से मंत्रियों को सम्मिलित कर के क्षेत्रीय संतुलन का ध्यान रखा जाता है।

एकात्मक और संघात्मक सरकारों के गुण और दोष

एकात्मक सरकार में सत्ता एक ही स्तर पर स्थित होती है, और उनके लक्ष्यों के बारे में किसी प्रकार का कोई भ्रम नहीं होता। इससे एक कार्यकुशल सरकार का निर्माण होता है। प्रशासन में अधिक एकरूपता आती है। यह निर्णय लिया जा सकता है कि सत्ता का उपयोग किस प्रकार किया जाए और कौन से अधिकार अन्य स्थानीय संस्थाओं को दिए जाएं। इसकी कार्य प्रणाली में अधिक लचीलापन होता है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि एकात्मक सरकार मे केंद्र पर अधिक बोझ होता है। स्थानीय इकाइयों को सांविधानिक मान्यता नहीं होती, लेकिन ऐसा हो सकता है कि ये संस्थाएं स्थानीय समस्याओं का प्रबंध अधिक प्रभावकारी ढंग से कर सकें। अधिक भिन्नताओं वाले देशों के लिए यह सरकार बहुत उपयुक्त नहीं है। सत्ता के एक ही स्तर पर केंद्रित होने के कारण एकात्मक सरकार का एकतंत्र अथवा अधिनायकवादी शासन में बदल जाने की अधिक संभावना रहती है।

संघात्मक सरकार में सत्ता के विभाजन का एक स्पष्ट विवरण होता है। जो संस्था सत्ता के लिये सुयोग्य समझी जाती है, उसको शक्तियों के उपयोग का अधिकार दिया जाता है। जिन विषयों के लिए निर्णय लेने की प्रक्रिया में एकरूपता की आवश्यकता होती है, जैसे देश की सुरक्षा और विदेश विभाग वे केंद्रीय सरकार के अधीन होते हैं। जिन विषयों पर स्थानीय

स्थिति का अधिक प्रभाव होता है और स्थानीय पहल की आवश्यकता रहती है, वे संघ की इकाइयों के अधिकार में दिए जाते हैं। इस तरह संघात्मक व्यवस्था एकता और स्थानीय भिन्नता के संमिश्रिण का अच्छा उदाहरण है। सरकार की यह व्यवस्था उन देशों के लिए आदर्श हैं जिनका आकार बड़ा है और जहां सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विभिन्नताएं विद्यमान होती हैं। विभिन्नताओं को मान्यता देने से स्थानीय पहल के अधिक अवसर मिलते हैं, जो प्राय : आर्थिक विकास में सहायक होते हैं। स्थानीय संस्थाओं को अपने महत्व के कार्य करने का अधिकार और लोगों को उत्तरदायित्व निभाने के अधिक अवसर मिलते हैं। लोग स्थानीय महत्व के विषयों से अधिक परिचित होते हैं और उनमें अधिक दिलचस्पी लेते हैं। इस तरह की साझेदारी से लोगों को सरकार के कामकाज के बारे में अधिक जानकारी हो जाती है। संघात्मक व्यवस्था में सत्ता का विभाजन विस्तृत रूप में नियोजित होता है। सत्ता केंद्रित नहीं होती, बँटी हुई होती है, जो सरकार के एकतंत्रीय होने की प्रवृत्ति के लिए प्रतिबंध सिद्ध होती है।

संघात्मक व्यवस्था की कुछ कमियां भी हैं। इकाइयों की केंद्र के साथ सत्ता में साझेदारी कभी-कभी उसके कार्य को सीमित कर देती है। सुरक्षा और आर्थिक विकास के कार्यक्रमों में यह लक्षित होता है। यह भी देखने में आता है कि संघीय व्यवस्था में कुछ विशेष स्थितियों मे केंद्रीय सरकार को अधिक अधिकार दिए जाते हैं, जैसे भारतीय संविधान में आपत्कालीन स्थिति। सरकार के दो स्तरों के बीच शक्तियों के विभाजन के कारण कभी-कभी संघर्ष की स्थिति भी हो जाती है। इन संघर्षों को हल करने का उत्तरदायित्व न्यायपालिका के ऊपर होता है। न्यायपालिका को सामान्य कार्यों के साथ कुछ और महत्त्वपूर्ण कार्य दिए जाते हैं, जैसे संविधान के संरक्षक के रूप में काम करना भी उसका उत्तरदायित्व है। न्यायपालिका के इस महत्व से संघीय व्यवस्था में संघर्ष का एक और स्तर जुड़ जाता है वह है न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका जैसी संस्थाओं के बीच टकराव की स्थिति। संघ में विभिन्न क्षेत्रों को सरकार और प्रशासन की इकाई के रूप में मान्यता दी जाती है। प्राय : लोग क्षेत्र के साथ अपनी पहचान बना लेते हैं। ऐसी स्थिति में लोगों की निष्ठा देश और क्षेत्र के बीच बँट जाती है। इस प्रकार संघात्मक व्यवस्था में क्षेत्रीयता की आशंका बनी रहती है।

लाभ और गुण की दृष्टि से एकात्मक और संघीय सरकारों की तुलना उपयोगी है। इन सैद्धांतिक विषयों से अधिक महत्त्पूर्ण है, देश की सामाजिक-आर्थिक विशेषता, आकार और सांविधानिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया। हमने पहले पढ़ा है कि देश के लिए सरकार के स्वरूप की उपयुक्तता आकार और विभिन्नताओं पर निर्भर करती है। संस्थाओं और व्यवहारों का स्वरूप कालक्रम में निर्धारित होता है और सरकार के स्वरूप पर उनका प्रभाव पड़ता है। अमेरिका और भारत में संघीय व्यवस्था के विकास में इन प्रक्रियाओं के योगदान की चर्चा पहले की जा चुकी है।

केंद्रीकरण की प्रवृत्ति और संघीय समाधान

हमने ऊपर देखा है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास और राज्य के कार्य विस्तार के कारण, सत्ता के केंद्रीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला है। कल्याणकारी राज्य के आदर्शों की मान्यता से, आर्थिक विकास एक मुख्य विषय हो गया है और नियोजन सरकार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाने लगा है। सैनिक और सुरक्षा का संगठन जिस अनुपात में बढ़ा है उससे सरकार की शक्तियों में और वृद्धि हुई है। इन तत्वों का असर संघात्मक सरकारों पर भी पड़ा है और केंद्रीय सरकार अधिक शक्तिशाली हो गई हैं। बहुत से कार्यक्रम केंद्रीय स्तर पर नियोजित होते हैं और राज्य सरकार मात्र कार्यान्वयन की संस्था बन कर रह गई है। सरकार के दोनों स्तरों के बीच बराबर की साझेदारी नहीं है।

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं पर लोगों की बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना का भी प्रभाव पड़ा है। प्रजातंत्र और उसके मानदण्डों के कारण लोग अपने अधिकारों के प्रति अधिक सजग हो गए हैं। उनमें यह चेतना भी आई है कि राज्य से उन्हें क्या सुविधाएं मिलनी चाहिए। इस तरह की मांगें सिर्फ व्यक्तियों द्वारा ही नहीं की जातीं, अपितु सामाजिक समूह और विभिन्न क्षेत्र भी सरकार से अनेक प्रकार की मांग करते हैं। संघीय व्यवस्था में संस्थाओं की बनावट कुछ ऐसी होती है कि ये समस्याएं सामने आती हैं। इन समस्याओं के समाधान की दृष्टि से संघीय व्यवस्था सरकार का एक व्यावहारिक स्वरूप है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि "नए संघों" के एक अध्ययन के विचार में "पिछले 150 वर्षों की अवधि में संघीय समाधान सबसे लोकप्रिय रहा है।"

अभ्यास

1. संघात्मक व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख लक्षणों की व्याख्या कीजिए।
2. संघात्मक एवं एकात्मक शासन प्रणालियों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. संघात्मक व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।
4. संघात्मक व्यवस्था को अपनाने के लिए उत्तरदायी कारणों का परीक्षण करो।
5. संघात्मक शासन प्रणाली के गुण एवं दोषों की व्याख्या कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) परिसंघ
   (ख) शक्तियों का विभाजन
   (ग) संघात्मक व्यवस्था में न्यायपालिका की भूमिका

अध्याय 9

समाजवादी सरकार

समाजवादी सरकार और समाज के आविर्भाव से बहुत पहले सेंट साइमन, लुडविग फायरबाख और राबर्ट ओवन जैसे विद्वानों ने समाजवादी आदर्श का समर्थन किया था। राजनीतिक विचारों के इतिहास में विभिन्न विचारधाराओं ने जबतब समाजवादी आदर्शों का समर्थन किया। 1789 ई. के फ्रांस की क्रांति में स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व जैसे आदर्शों के द्वारा समाजवादी आदर्शों के व्यवहार की एक झलक मिलती है। लेकिन इस

कार्ल मॉर्क्स (1818-1883 ईसवी)

जन्म से जर्मन यहूदी। वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता। साम्यवादी विचार धारा के प्रवर्तक के रूप में उसके लेखन ने सम्पूर्ण विश्व में समाजवादी आंदोलनों को प्रेरित और प्रभावित किया है। प्रसिद्ध पुस्तकें : "दास कैपिटल" (Das Capital), "कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो" (Communist Manifesto).

विचारधारा की विस्तृत व्याख्या कार्ल मार्क्स और लेनिन ने की। 1917 की रूसी क्रांति के बाद ही समाजवाद आदर्शों की दुनिया से बाहर निकल कर आया। इसके बाद राज्य और सरकार को इस प्रकार से संगठित करने का अवसर मिला जिससे समाजवाद के आदर्शों की प्राप्ति हो सके। समाजवादी राज्य के संगठन में 1949 ई. की चीन की क्रांति एक और सीमा-चिन्ह् है। यह उन राज्यों के लिए एक प्रतिमान थी जो समाजवादी सरकार चाहते थे।

रूसी और चीनी क्रांतियाँ और उपनिवेशवाद की समाप्ति लगभग एक ही अवधि में हुई। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देश, जो यूरोपीय राज्यों के उपनिवेश थे, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे थे और अनेकों ने इसी अवधि में स्वतंत्रता प्राप्त की। मार्क्सवादी विचारधारा और रूसी तथा चीनी प्रयोगों ने सरकार के एक नए स्वरूप का प्रतिमान सामने रखा और कई नए देश इसकी ओर आकर्षित हुए। इनमें से अधिकतर देशों में स्वतंत्रता प्राप्ति के बहुत पहले ही समाजवादी विचारधारा अपनी जड़ें जमा चुकी थीं। अधिकतर उपनिवेशवादी राज्य पूंजीवादी व्यवस्था के भागीदार थे और भूतपूर्व उपनिवेश उस व्यवस्था से संबंध विच्छेद चाहते थे। ऐसी अवस्था में समाजवादी विकल्प आकर्षक लगा। आंतरिक पिछड़ापन और कई अन्य आर्थिक समस्याएं अनिवार्य रूप से उनके पहले के उपनिवेश की स्थिति से जुड़ी थीं। आर्थिक पुनर्गठन की दृष्टि से भी "समाजवादी समाधान" आकर्षक था।

समाजवादी सरकार कहलाने वाले राज्यों की संख्या में 1917 के बाद वृद्धि हुई है। ये विश्व के प्रायः सभी महाद्वीपों में फैले हैं। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सैनिक प्रगति

के आधार पर कई समाजवादी राज्यों ने अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की है। सरकारों के वर्गीकरण में समाजवादी सरकार का प्रयोग नया है। सरकार के इस स्वरूप पर विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है। इस विचारधारा के मुख्य विषयों की विवेचना के बाद, यह देखा जा सकता है कि कौन सी संस्थाएं इन आदर्शों की प्राप्ति में सहायक हो सकती हैं। एक दूसरा तरीका यह है कि हम उन देशों की सरकारी संस्थाओं पर विचार करें, जो समाजवादी होने का दावा करते हैं। ये दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। इन दोनों का सम्मिश्रण हमारे विचार के लिए अच्छा होगा।

समाजवाद के आदर्शों के बारे में सामान्य सहमति के बावजूद विभिन्न देशों में इसकी व्याख्या अलग-अलग तरीके से की जाती है। यह विभिन्नता विचारधारा के प्रति वचनबद्धता और इस दृष्टि से है कि ये देश किस सीमा तक समाजिक-आर्थक संस्थाओं में मूलभूत परिवर्तन करने के लिए तैयार हैं। कुछ ऐसे उदारवादी प्रजातांत्रिक देश (Liberal Democratic Countries) हैं जो समाजवाद के आदर्शों में अपना विश्वास प्रकट करते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये इमानदारी से प्रयास भी करते हैं। कुछ अन्य देश ऐसे हैं जो अपने को प्रजातांत्रिक समाजवादी (Democratic Socialist) कहते हैं। इनका समाजवाद और प्रजातंत्र दोनों आदर्शों में समान रूप से *विश्वास है, और ये किसी एक को दूसरे की प्राप्ति के लिये* त्यागने के लिये तैयार नहीं हैं। ये देश उन साम्यवादी देशों की आलोचना करते हैं जहाँ उन्हें कुछ कमी दिखाई देती है। तीसरे प्रकार के समाजवादी देश वे हैं जो अपने को साम्यवादी कहते हैं, जैसे सोवियत संघ और चीन। इन देशों में क्रांति के बाद सामाजिक-आर्थिक संबंधों का पुनर्गठन हुआ। यहां के संविधान में ऐसी संस्थाओं का प्रावधान किया गया है, जो इनके विचार में समाजवादी आदर्शों की प्राप्ति में सहायक होंगी। नीचे हम उन समाजवादी राज्यों और सरकारों के विशेष लक्षणों पर विचार करेंगे, जो मार्क्स और लेनिन के विचार को मानते हैं।

समाजिक-आर्थिक शक्तियों का पुनर्गठन

सामाजिक प्रक्रिया के समाजवादी और साम्यवादी (मार्क्सवादी) विश्लेषण में आर्थिक शक्तियों को प्राथमिकता दी जाती है। संपत्ति और उत्पादन के संबंध समाज के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। इन संबंधों का स्वरूप और उनकी स्थिति से सामाजिक वर्ग निर्धारित होते हैं, जो प्रभुत्व के लिए सतत् एक दूसरे से प्रतियोगिता करते रहते हैं। अन्य सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के साथ राज्य का स्वरूप भी इन वर्गों के अंतर्विरोधों से निर्धारित होता है। इस स्थिति पर काबू पाने के लिए समाज का, *मुख्यतः आर्थिक संबंधों का, पुनर्गठन आवश्यक है।* निजी संपत्ति की समाप्ति तथा उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया पर व्यक्ति के बदले समाज का स्वामित्व, का इसमें विशेष महत्व है। इस प्रकार पुनर्गठन का सामाजिक वर्ग भेद पर प्रभाव पड़ेगा। कोई भी वर्ग शासक और शोषक नहीं होगा। वर्ग-अंतर्विरोध समाप्त हो जाएगा। उत्पादन के साधनों पर मजदूरों का नियंत्रण होगा और समाजवादी समाज में एक ही वर्ग होगा : सर्वहारा वर्ग। राज्य समाज में एक वर्ग का दूसरे वर्गों पर प्रभुत्व का प्रतिरूप नहीं होगा। यह संपूर्ण समाज के हित का प्रतिनिधि होगा और इस पर सर्वहारा वर्ग का नियंत्रण रहेगा। इस प्रक्रिया का प्रारंभ आर्थिक संबंधों के पुनर्गठन से होगा।

क्रांति के कारण समाजवादी राज्यों को नई संस्थाओं और संबंधों को संगठित करने का अवसर मिला, लेकिन पुनर्गठन का यह काम सरल नहीं। सोवियत संघ ने 1936 ई. में अपने को समाजवादी राज्य घोषित किया। अक्तूबर 1977 ई. में संविधान का पुनर्निर्माण हुआ, जिसमें सँघीय व्यवस्था में आस्था प्रकट की गई और व्यक्तिगत अधिकारों को और मज़बूत किया गया। उत्पादन प्रक्रिया पर राज्य का नियंत्रण इन राज्यों की वास्तविक उपलब्धि रही है। समाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं की केंद्रीय परियोजना इन राज्यों का विशेष लक्षण है।

समाजवाद में राजनीतिक दल

समाजवादी व्यवस्था में राजनीतिक दलों की संख्या और उनकी विचारधारा आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समाजवादी व्यवस्था में वर्गों की विविधता के बदले एक ही वर्ग, सर्वहारा वर्ग, होगा और इसीलिए कई दलों का कोई प्रश्न ही नहीं। इसके अतिरिक्त इस समाज में एक ही विचारधारा का अनुसरण होता है। समाजवादी व्यवस्था में अधिकतर एक ही दल होता कुछ राज्यों में एक से अधिक दल भी रहे हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त बुलगारिया में एक (बुलगेरियन एग्रेरियन पीपुल्स यूनियन), पौलैण्ड में दो (यूनाइटेड फार्मरस् पार्टी और डेमोक्रेटिक पार्टी), और जर्मन प्रजातांत्रिक गणराज्य में चार (क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी यूनियन, डेमोक्रेटिक फार्मरस्

पार्टी, नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी आफ जर्मनी, लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी आफ जर्मनी), राजनीतिक दल थे। लेकिन ये दल मुख्य दल की विचारधारा का विरोध नहीं करते थे।

राजनीतिक दल की गतिविधि चुनाव में सफलता के अल्पकालिक लक्ष्यों तक सीमित नहीं रहती। विचारधारा का उच्च लक्ष्य इनकी गतिविधियों का मुख्य आधार होता है। अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इन दलों को एक सुदृढ़ नेतृत्व की आवश्यकता होती है। अपनी विचारधारा की सफलता और समाज के हित के लिए दल को एक अनुशासित संगठन की भी आवश्यकता होती है। पार्टी का अखंडित(Monolithic) ढांचा होता है।

सोवियत संघ में एक-दलीय व्यवस्था के औचित्य के पक्ष में दिए जाने वाले तर्कों का पता लगाइए।

लोकतांत्रिक केंद्रीयता और दलीय ढांचा

दलीय ढांचे की आवश्यकता और सदस्यों की भागीदारी का सामंजस्य लेनिन द्वारा प्रतिपादित लोकतांत्रिक केंद्रीयता (Democratic Centralism) के सिद्धांत द्वारा किया जाता है। सुदृढ़ नेतृत्व और एकीकृत दलीय ढांचे का यह अर्थ नहीं है कि सदस्यों की भागीदारी किसी भी अर्थ में सीमित है।

निकोलाय लेनिन (1870-1924 ईसवी)

एक महान् रूसी नेता। मार्क्सवाद को व्यवहारिक राजनैतिक विचारधार का रूप दिया। उसने 1917 की रूसी क्रांति का नेतृत्व किया। प्रसिद्ध पुस्तकें : "स्टेट एन्ड रिवोल्यूशन" (State and Revolution), "व्हाट इज टू बी डन" (What is to be done), "इम्पीरियलिज्म- दी हाएस्ट स्टेट ऑफ कैपिटेलिज्म" (Imperialism the highest state of Capitalism).

सोवियत संघ के साम्यवादी दल (सी. पी. एस. यू.) का औपचारिक संगठन लोकतांत्रिक केंद्रीयता के सिद्धांत का एक अच्छा उदाहरण है। दल की सर्वोच्च संस्था, सी. पी. एस. यू. दल की इकाइयों के सुसंगठित पद सोपान पर आधारित है। इस पद पर सोपान के सबसे नीचे कारखानों, राज्य फार्मों, स्कूलों; सैनिक दलों, और गांव जैसे आवासीय खंडों, में स्थित मूल इकाइयां हैं। इन स्तरों पर मूल इकाइयों की शाखाएं भी हो सकती हैं। इन मूल इकाईयों द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि क्षेत्रिय सम्मेलन (Regional Conference) का चुनाव करते हैं। क्षेत्रीय सम्मेलन द्वारा गणतंत्रीय कांग्रेस (Republican congress) सी.पी.एस.यू. का चुनाव होता है। इन सभी स्तरों पर पूर्णकालिक अधिकारी होते हैं। जहां एक और दल की नीचे की इकाई अपने से उत्तरोत्तर ऊपर की इकाइयों के सदस्यों का चुनाव करती हैं, वहीं ऊपर लिए गए निर्णय नीचे की इकाइयों के लिए बाध्य होते हैं। ऊपर की संस्थाओं द्वारा किए गए निर्णयों और नीति निर्देशों का नीचे की इकायों को पालन करना पड़ता है। दल की हर संस्था अपने से नीचे की इकाइयों के कार्य के लिए उत्तरादायी होती है। उनसे कार्य के बारे में सूचना मांगी जाती है और नए नीति निर्देश जारी किए जाते हैं। साथ ही साथ निचली इकाइयों द्वारा की गई नियुक्तियों की स्वीकृति भी दी जाती है, जो उपर की इकाइयों के नियंत्रण को प्रभावकारी बनाती है। इस तरह दलीय संगठन में सदस्यों और इकाइयों की भागीदारी कठोर अनुशासन और एकीकृत ढांचों में सामंजस्य पाया जाता है।

चुनाव की प्रक्रिया

चुनाव का संगठन और उसका संचालन इस बात पर आधारित है कि इस प्रक्रिया के औचित्य की व्याख्या किस तरह की जाती है। समाजवादी समाज यह दावा करता है कि वहां एक मात्र सर्वहारा वर्ग ही है, इसलिए विभिन्न आर्थिक वर्गों में प्रतियोगिता का प्रश्न ही नहीं उठता। एक मात्र वर्ग के हितों की रक्षा एक मात्र विचारधारा द्वारा की जाती है। इसलिए चुनाव की प्रक्रिया दलीय संगठन के विभिन्न इकाइयों के अंदर ही सीमित रहती है। यह सुनिश्चित हो जाने पर, विधायिका जैसी सरकारी संस्थाओं का चुनाव दल के उम्मीदवारों के बीच ही होता है। विभिन्न दलों के उम्मीदवारों में प्रतियोगिता नहीं होती।

सोवियत संघ में दल के अंदर उम्मीद्वारों के नामांकन के

समय चुनाव की प्रक्रिया सामने आती है। इसका निष्पादन दल के विभिन्न स्तरों पर होता है। जो उम्मीदवार नामांकित होते हैं, वे समर्थक संस्था के उम्मीदवार के रूप में क्षेत्रीय निर्वाचन आयोग (District Election Commission) के पास पंजीकृत होते हैं। नामांकन के बाद उम्मीदवारों के लिए निर्वाचकों के समक्ष उपस्थित होना आवश्यक है। इस तरह निर्वाचन की प्रक्रिया में भी दल की प्रधानता रहती है।

सरकारी संस्थाएं

समाजवादी व्यवस्था में विभिन्न संस्थाओं की सत्ता का पृथक्करण *महत्वपूर्ण नहीं है। सत्ता का संगठन एक मात्र विचारधारा के* प्रति वचनबद्धता पर आधारित है और इसलिए सत्ता के केन्द्रीकरण का भय नहीं रहता। कार्यपालिका, विधायिका, और *न्यायपालिका जैसी सरकारी संस्थाएं होती तो हैं, लेकिन केंद्रीय* समन्वय का काम दल द्वारा किया जाता है।

न्यायपालिका व्यवस्था

सांविधानिक विशेषज्ञों ने न्यायपालिका के दो कार्यों की चर्चा की है: अधिनिर्णय (adjudication) और नियम प्रवर्तन (Rule Enforcement)। पहले कार्य का संबंध नागरिकों के लिए न्याय सुनिश्चित करना है। हमने पहले पढ़ा है कि प्रायः देश के संविधान में न्यायपालिका को कार्यपालिका और विधायिका जैसी संस्थाओं से ऊंचा पद और मान्यता दी जाती है। ऐसी *व्यवस्था* विशेषकर संघों में पाई जाती है। *न्यायपालिका* के ऐसे कार्य का यह पक्ष भी है कि वह सरकार के संभावित अतिक्रमण के खिलाफ व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भी रक्षा करे। *समाजवादी-साम्यवादी विचारधारा के अनुसार न्यायपालिका का* यह कार्य अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। राज्य और दल ही नागरिक के अधिकारों के संरक्षक हैं और सरकारी संस्थाएं समाज के हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

न्यायपालिका का दूसरा कार्य यह है कि सरकार जो भी कानून और नियम बनाती है उन्हें ठीक से लागू किया जाए। *न्यायपालिका भी अन्य सरकारी संस्थाओं की तरह समाजवादी* व्यवस्था के संरक्षण के लिये उत्तरदायी है। इस तरह न्यायपालिका के नियम प्रवर्तन के कार्य पर बल दिया जाता है।

सरकार के संगठन के सिद्धांत के अनुरूप, उच्चतम न्यायालय और उसके अधीनस्थ न्यायालय में निर्वाचित सदस्य होते हैं। *सोवियत संघ के उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश सुप्रीम* सोवियत द्वारा निर्वाचित होते हैं। युगोस्लाविया के संघीय न्यायालय (Federal Court) में भी यही व्यवस्था है। न्यायाधीशों का निर्वाचन उसी अवधि के लिए होता है जो अवधि निर्वाचक संस्था की होती है और उन्हें किसी भी समय वापस बुलाया जा सकता है। सोवियत संघ के यूनियन रिपब्लिक के सर्वोच्च न्यायालय के मध्यवर्ती न्यायालयों के न्यायाधीशों का भी निर्वाचन ही होता है। इस श्रृंखला में सबसे नीचे जनता के न्यायालय (People's Court) में व्यावसायिक न्यायाधीश और निर्धारक होते हैं, जिनका "कारखानों कार्यालयों और व्यावसायिक कार्यकर्ताओं" की आम सभा से प्रत्यक्ष चुनाव किया जाता है।

उदारवादी प्रजातंत्रों में समाजवादी आदर्श

मार्क्स और लेनिन के सिद्धांतों में प्रत्यक्ष रूप से आस्था रखने वाले देशों के अलावा, ब्रिटेन और भारत जैसे उदारवादी *लोकतंत्र भी समाजवादी आदर्शों को मानते हैं। ऐसे बहुत से* राज्यों में समाजवादी और साम्यवादी दल आम चुनाव में भाग लेते हैं। ब्रिटेन में कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त लेबर पार्टी काफी महत्वपूर्ण रही है। लेबर पार्टी कई बार सत्ता में भी आ चुकी है। फ्रांस में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना 1920 ई. में हुई थी और अब वह एक सुव्यवस्थित पार्टी मानी जाती है। इसके अतिरिक्त फ्रांस में सोशलिस्ट पार्टी और रेडिकल सोशलिस्ट पार्टी भी हैं। तीसरी दुनिया के करीब सभी देशों में इस तरह की विचारधारा वाले दल हैं।

बहुत से देशों का घोषित आदर्श समाजवाद है। 42वें *संविधान संशोधन द्वारा "समाजवाद" भारतीय संविधान की* प्रस्तावना में जोड़कर इस आदर्श पर बल दिया गया।

कल्याणकारी राज्य के आदर्श राज्य के उद्देश्यों को *समाजवाद के अधिक निकट ले आए हैं। हमने ऊपर पढ़ा है* कि विचारधारा चाहे जो भी हो, हर राज्य लोककल्याण को ध्यान में रखता है। आर्थिक योजना के कार्यक्रम और संस्थाएं, समाजवादी सरकार तक ही सीमित नहीं हैं। सामाजिक-आर्थिक योजना आधुनिक राज्यों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है और बहुत से देशों में इसके लिए केंद्रीय संस्था की स्थापना की गई है। भारत में योजना आयोग ऐसी ही एक संस्था है। उत्पादन की प्रक्रिया और संस्थाओं पर सामाजिक नियंत्रण की भी यही स्थिति

है। बहुत से राज्यों में सार्वजनिक निवेश में वृद्धि हो रही है। भारत में आर्थिक योजना में सार्वजनिक निवेश को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

समाजवादी सरकार का मूल्यांकन

समाजवादी व्यवस्था के जहां एक ओर कुछ पक्के समर्थक हैं, वहां दूसरी ओर कुछ आलोचक भी हैं। हमने ऊपर पढ़ा कि समाजवाद बहुत सी राजनीतिक व्यवस्थाओं का आदर्श रहा है। समाजवादी आधार पर सरकारों के सुसंगठित होने के साथ ही, समर्थकों का विचार है कि एक आदर्श लोक की प्राप्ति हो गई है। आलोचक समाजवादी व्यवस्था के वास्तविक कार्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैं कि समाजवादी लक्ष्य तथा विचारधारा और उसके व्यवहार में बहुत अंतर है। उनका कहना है कि जिस विचार धारा का प्रतिपादन मार्क्स और लेनिन ने किया, वह समाजवादी और साम्यवादी राज्यों में सही रूप में परिलक्षित नहीं होती। इन व्यवस्थाओं को समझने के लिए हमें इन दोनो अतिवादों से बचना होगा। जैसा हमने देखा जिन देशों में मार्क्सवादी विचारधारा अपनाई गई है, वहां प्राथमिकताओं की परिभाषा भी उसी के अनुसार की गई है, जिसका आभास हमें सरकार के संगठन और उसकी नीतियों से मिलता है। इस विचारधारा से असहमति संभवतः समाज और राज्य के अन्य पहलुओं पर बल देगी। समाजवादी राज्य और सरकार का किसी अन्य विचारधारा के मानदण्ड पर मूल्यांकन युक्तिसंगत नहीं है। कोई भी समाजवादी राज्य यह दावा नहीं करता कि उसने अपने आदर्शों की पूर्ण प्राप्ति कर ली है। उनका कहना यह है कि वे समाजवादी आदर्शों की प्राप्ति के पथ पर हैं और उन्होंने राज्य और सरकार का जो संगठन अपनाया है उससे उन्हें उस दिशा में अग्रसर होने में आसानी होगी। समाजवादी मार्ग निश्चय ही एक ऐसा विकल्प प्रस्तुत करता है, जो विशेषतः तीसरी दुनियाँ के देशों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

> इन दिनों सोवियत शासन व्यवस्था में कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार किए जा रहे हैं। इस संदर्भ में "पेरेस्ट्रोइका" (Perestroika) और "ग्लासनोस्ट" (Glasnost) नामक दो शब्द विशेषतः प्रचलित हैं। इनका अर्थ पता लगाइए।

अभ्यास

1. सोवियत संघ जैसे समाजवादी राज्य में न्यायपालिका की भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. समाजवादी राज्यों में राजनीतिक दलों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
3. प्रजातांत्रिक केन्द्रीकरण से आप क्या समझते हैं? सोवियत संघ का उदाहरण देते हुए इसकी व्याख्या कीजिए।
4. समाजवादी व्यवस्था में राजनैतिक दलों के बीच कोई प्रतियोगिता नहीं होती। सोवियत संघ में साम्यवादी दल जैसे राजनैतिक दलों में चुनावों के महत्त्व की चर्चा कीजिए।
5. भारत के संदर्भ में उदारवादी लोकतंत्रों के समाजवादी उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

अध्याय 10

भारत में सांविधानिक विकास के विभिन्न चरण

भारतीय संविधान में जिन राजनीतिक संस्थाओं को प्रतिष्ठापित किया गया उनका विकास उससे पहले के एक शताब्दी के दौरान धीरे-धीरे हुआ। 31 दिसंबर 1600 ई॰ को ईस्ट इंडिया कंपनी को राजकीय चार्टर द्वारा भारतीय उपमहाद्वीप में व्यापार करने की अनुमति दी गई। कंपनी का संगठन और ब्रिटिश सरकार से उसका संबंध समय-समय पर दी गई अनुमति से निर्धारित हुआ। सरकार और कंपनी के बीच सदा संघर्ष की सी स्थिति बनी रही। ब्रिटेन की सरकार भारत की गतिविधियों पर निरंतर अपना नियंत्रण बढ़ाती गई और कंपनी की ओर से उसके कार्यों में स्वायत्तता पर बल दिया जाता रहा। अधिक से अधिक भारतीय प्रदेश पर बढ़ते हुए अधिकार से ब्रिटेन की सरकार के इस इरादे का साफ पता चलता है कि वह शुरू से ही भारत में सरकार की स्थापना चाहती थी। 1857 ई॰ के जन विद्रोह ने ब्रिटेन की सरकार को भारत पर प्रत्यक्ष शासन का मौका दिया।

1857 ई॰ का जन विद्रोह उस जन असंतोष का चरम बिन्दु था जो ब्रिटेन के प्रतुत्व के खिलाफ उभर रहा था। भारत और ब्रिटेन के लोकमत का शासन में सुधार लाने के लिए दबाव बना हुआ था। इसी दबाव का प्रतिनिधित्व करने के लिए 1885 ई॰ में ए॰ ओ॰ ह्यूम ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की आवश्यकता का अनुभव किया जो ब्रिटेन के शासन के लिए "सुरक्षा वाल्व" की तरह काम करे। यह असंतोष को, खासकर शिक्षित वर्ग के, सांविधानिक सुधारों की धारा में बांध कर रखेगा। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसा मंच होगा जिसके द्वारा ब्रिटेन की सरकार को जन असंतोष की सूचना मिलेगी। लेकिन बाद के वर्षों में कांग्रेस लोक चेतना के प्रसार के लिए एक अग्रणी संस्था बन गई। कालक्रम में जो सांविधानिक सुधार लाए गए वे कांग्रेस द्वारा व्यक्त किए हुए दबावों की प्रतिक्रिया स्वरूप ही थे।

भारत सरकार अधिनियम 1858

इस अधिनियम के अनुसार भारत ब्रिटेन की संसद के प्रत्यक्ष शासन के अंतर्गत आ गया। भारत के कारोबार पर इंग्लैंड की साम्राज्ञी का निरपेक्ष शासन स्थापित हुआ। इस नियंत्रण का उपयोग सेक्रेटरी आफ स्टैट के माध्यम से होना था, जो ब्रिटेन के संसद के प्रति उत्तरदायी था। उसकी सहायता के लिए एक कांउसिल आफ इंडिया की स्थापना हुई। काउंसिल के सदस्यों की संख्या 15 थी, जिसमें 8 का मनोनयन ब्रिटेन के क्राउन (सम्राट/साम्राज्ञी) द्वारा किया जाता और ईस्ट इंडिया कंपनी का बोर्ड आफ डायरेक्टर बाकी 7 सदस्यों को मनोनीत करता था। काउंसिल का सदस्य होने के लिए भारत में काम करने का अनुभव आवश्यक था। गवर्नर-जनरल भारत में क्राउन के प्रतिनिधि के रूप में काम करता था। कार्यकारिणी काउंसिल का काम गवर्नर-जनरल की सहायता करना था। हर प्रांत में गवर्नर, या लेफ्टिनेंट गवर्नर होता था, जिसकी सहायता के लिए उस स्तर पर एक कार्यकारिणी काउंसिल होती थी। इस तरह आदेश की रेखा (Line of Command) स्पष्ट थी। प्रांतीय गवर्नर, गवर्नर-जनरल के अधीन काम करता था, जिसके ऊपर भारत सचिव का नियंत्रण था। अंतिम नियंत्रण ब्रिटिश क्राउन और संसद का था। इस साम्राज्यिक शासन व्यवस्था में भारत के लोकमत का कोई स्थान नहीं था। बाद में जो ब्रिटिश संसद द्वारा सांविधानिक सुधार लाए गए उसमें भारतीय लोकमत का प्रश्न ही प्रमुख था।

भारत काउंसिल अधिनियम 1861

इस अधिनियम ने सांविधानिक विकास को एक कदम आगे बढ़ाया। इसके अनुसार कार्यकारिणी काउंसिल के विधायी कार्य के लिए कुछ गैरसरकारी (non-official) सदस्यों के लिए स्थान रखा गया। गवर्नर-जनरल के अधिकार क्षेत्र में कोई अंतर नहीं लाया गया। काउंसिल के सामने कोई विधेयक पेश होने के पहले गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी। ऐसे समय वह विशेषाधिकार का प्रयोग कर सकता था। गवर्नर-जनरल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। प्रांतों में भी विधायी काउंसिल की स्थापना की गई। इसके लिए भी गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी।

भारतीय काउंसिल अधिनियम 1892

1861 के अधिनियम के अंतर्गत गैरसरकारी सदस्य या तो बड़े जमींदार होते थे या अवकाश प्राप्त अधिकारी या भारत के राज परिवारों के सदस्य। प्रतिनिधित्व की आम आकांक्षा की तुष्टि इससे नहीं हुई। इसी बीच, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अधिक महत्वपूर्ण हो गई थी और उसने अधिक प्रतिनिधित्व की मांग करना शुरू कर दिया। यूरोपीय व्यापारियों की ओर से भी भारत सरकार को इंग्लैंड में स्थित इंडिया आफिस से अधिक स्वतंत्रता की मांग की जाती रही। सर जार्ज चिसनी की अध्यक्षता में एक कमेटी बनी जिसके सुझावों का समावेश 1862 ई. के अध्यादेश में किया गया। इस अधिनियम की विशेषता यह थी इसके द्वारा (Imperial Council) और प्रांतीय विधायिका, दोनों में "अतिरिक्त सदस्यों" की संख्या बढ़ा दी गई और उनके निर्वाचन का भी विशेष उल्लेख किया गया। यद्यपि इसके द्वारा सीमित चुनाव की ही व्यवस्था हुई, लेकिन भारत के मुख्य सामाजिक वर्गों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया गया। गैर सरकारी सदस्यों का निर्वाचन चैम्बर आफ कामर्स, यूनिवर्सिटी, नगर पालिका, जिला बोर्ड जैसी संस्थाओं द्वारा किया गया। काउंसिल के अधिकारों में वृद्धि की गई। वार्षिक आय और बजट का ब्यौरा काउंसिल में प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया। सदस्यों को कार्यपालिका के काम के बारे में प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया। इस तरह 1892 ई. के अधिनियम द्वारा विधायिका के सदस्य के निर्वाचन की शुरुआत तो की गई लेकिन यह सीमित थी।

भारतीय काउंसिल अधिनियम 1909

1892 के अधिनियम की यह आलोचना की गई कि इसके प्रावधान लोगों की आकांक्षाओं को संतुष्ट नहीं करते। साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन पर उग्रवादी नेताओं का प्रभाव अधिक हो गया। बाल गंगाधर तिलक, बिपिन चंद्र पाल, और लाला लाजपत राय जैसे नेताओं ने ब्रिटिश सरकार के ऊपर अधिक दबाव डालना शुरू कर दिया। सेक्रेटरी आफ स्टेट, लार्ड मारले और भारत में वाइसराय लार्ड मिंटों, दोनों ही सहमत थे कि कुछ सुधारों की आवश्यकता है। सर अरून्डेल कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर फरवरी 1909 ई. में नया अधिनियम पारित किया गया।

कुछ और गैरसरकारी सदस्यों के साथ केंद्रीय विधायिका का विस्तार किया गया। उनका चुनाव सीमित और अप्रत्यक्ष रखा गया। इसमें प्रांतीय विधायिका, जमींदार वर्ग, व्यापारी संघ और मुस्लिम वर्ग, अपने प्रतिनिधि भेज सकते थे। प्रांतीय विधायिका के लिए इसी प्रकार के प्रावधान किए गए। इसके लिए विश्वविद्यालय, नगर पालिका, जिला बोर्ड और मुस्लिम वर्ग को निर्वाचन क्षेत्र माना गया।

विधायिका के कार्य क्षेत्र में विस्तार किया गया। सदस्यों को बजट प्रस्ताव करने और जनहित के विषयों पर प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया। जिन विषयों को विधायिका के क्षेत्र से बाहर रखा गया था वे थे सशस्त्र सेना, विदेश संबंध और देशी रियासतें।

1909 ई. के अधिनियम ने विधायिका में गैरसरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ा दी। अब विधायिका में इन सदस्यों का बहुमत था। निर्वाचन का सिद्धांत स्पष्ट रूप से माना गया, यद्यपि यह अभी भी सीमित और अप्रत्यक्ष था। विधायिका का कार्यक्षेत्र बढ़ाया गया। लेकिन इस अधिनियम द्वारा न सिर्फ मुस्लिम वर्ग को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया, यह प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात में अधिक था। इससे राष्ट्रीय आंदोलन की स्थायी क्षति हुई। पं. जवाहरलाल नेहरु ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "डिस्कवरी आफ इंडिया" में लिखा है, "इन्हें (मुस्लिम वर्ग को) भारत के अन्य वर्गों से अलग-थलग कर दिया गया और सदियों से चले आ रहे एकीकरण और एकसूत्र में जोड़ने की प्रक्रिया को विपरीत दिशा में मोड़ दिया। इसके (अधिनियम के) द्वारा मुस्लिम वर्ग के चारों ओर राजनीतिक अवरोध खड़ा कर दिया गया।"

मुस्लिम वर्ग के प्रतिनिधित्व से सांप्रदायिकता की शुरूआत हुई और साथ ही दूसरे संप्रदायों से भी उसी प्रकार की मांग उठने

लगी। 1919 ई. में सिक्खों को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया। हरिजन, भारतीय क्रिश्चियन और यूरोपीय समुदायों से इसी तरह की मांग हुई। बाद में आने वाले (सांविधानिक) सुधारों में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व ही मुख्य विवाद का विषय बन गया।

भारत सरकार अधिनियम 1919

अंग्रेजों द्वारा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में फूट डालने की पूरी कोशिश की गई, लेकिन मुस्लिम लीग और राष्ट्रीय कांग्रेस के बीच अंग्रेजों के राज्य के अंत की मांग के बारे में एकता बनी रही। सांप्रदायिक तत्वों की तुलना में राष्ट्रीय आंदोलन को कहीं अधिक महत्व मिला। इन प्रक्रियाओं का चरम बिंदु था 1919 ई. में लखनऊ में लीग और कांग्रेस का सम्मिलित अधिवेशन जहां लखनऊ समझौता हुआ। इस समझौते के द्वारा दोनों संगठनों के कार्यक्रम में एकता की स्थापना हुई। इसके द्वारा सांविधानिक सुधार के लिए सम्मिलित प्रस्ताव रखा गया। एनी बेसेंट का होम रूल आंदोलन, विदेशों में गदर पार्टी के कार्यक्रम, और प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटेन की स्थिति, इन सभी कारणों से ब्रिटेन भारत की स्थिति के पुनरवालोकन के लिए बाध्य हुआ। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट, मॉंटग्यू ने अगस्त 20, 1917 ई. को एक वक्तव्य दिया, जिसमें ब्रिटेन के इरादे का बयान किया गया:- "शासन की सभी शाखाओं में भारतीयों को शामिल करना और स्वायत्तशासी संस्थाओं का क्रमिक विकास, जिससे ब्रिटिश भारत के अभिन्न अंग के रूप में उत्तरदायी सरकार की उत्तरोतर उपलब्धि हो सके। "मॉंटग्यू नवंबर 10, 1917" ई. को भारत आए और उन्होंने वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड और कांग्रेस और लीग के नेताओं से विचार विमर्श किया। सुधार के जो प्रस्ताव सामने आए वे मॉंटग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में दिए गए। यही 1919 ई. अधिनियम का आधार बना।

इस अधिनियम ने सेक्रेटरी आफ स्टेट के अधिकार को कम कर दिया। गवर्नर-जनरल के प्रतिनिधि के रूप में हाई कमिश्नर आफ इन्डिया (High Commissioner of India) के पद का निर्माण हुआ। केंद्रीय कार्यकारिणी और प्रांतीय काउंसिल के संगठन और कार्य में फेर बदल किया गया। कार्यकारिणी कांउसिल में भारतीय सदस्यों की संख्या कुछ बढ़ा दी गई। प्रशासन के लिये विषयों को दो सूचियों में बाँट दिया गया: केंद्रीय और प्रांतीय। केंद्र में एक सदन के स्थान पर दो सदनों की स्थापना हुई, काउंसिल आफ स्टेट और केंद्रीय विधान एसेंबली। विधायिका में सदस्यों के चुनाव के लिए सम्पत्ति योग्यता रखी गई। सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को रहने दिया गया।

प्रांतीय शासन व्यवस्था में अधिक व्यापक परिवर्तन किए गए। प्रांतीय सूची के विषयों को दो भागों में बांटा गया: सुरक्षित विषय और हस्तांतरित विषय। सुरक्षित सूची के विषय गवर्नर के अधिकार क्षेत्र में थे, और वह इन विभागों को अपने कार्यकारिणी के नामज़द सदस्यों में बांट देता था। इस सूची के कुछ विषय थे : कानून और व्यवस्था, न्याय, सिंचाई, भूमि कर, कारागार इत्यादि। हस्तांतरित विषय भारतीय मंत्रियों के अधिकार में थे, जिनकी नियुक्ति भारतीय सदस्यों में से होती थी। शिक्षा, लोक निर्माण, स्थानीय स्वायत्तशासन, और लोक स्वास्थ्य जैसे विषय इस सूची में थे। सरकार की इस व्यवस्था को द्वैध शासन प्रणाली (Dyarchy) की संज्ञा दी गई।

प्रांतीय विधायी काउंसिल के आकार में वृद्धि हुई और लगभग 70 प्रतिशत सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था हुई। प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली को स्वीकार किया गया, लेकिन उच्च संपत्ति योग्यता, सांप्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र और कुछ समुदायों को विशेष महत्व जैसे कुछ सिद्धांतों को भी स्वीकार किया गया।

इन सुधारों के पश्चात् भी महत्वपूर्ण अधिकार अभी भी गवर्नर जनरल और प्रांतीय गवर्नर के हाथों में ही थे। द्वैध शासन प्रणाली व्यवस्था की तीव्र आलोचना हुई। सुरक्षित और हस्तांतरित सूचियों में विषयों का विभाजन अक्सर मनमाने और असंगत ढंग से किया गया। ये असंगतियां उस वक्त सामने आई जब अधिनियम को क्रियान्वित किया गया। इसके अलावा आर्थिक विषयों जैसे महत्वपूर्ण विषयों को सुरक्षित सूची में रखा गया। कार्यकारी काउंसिल के सदस्य, जिनके अधिकार में सुरक्षित सूची के विषय थे, और मंत्री जो हस्तांतरित विषय के अधिकारी थे, इन दोनों में शासन की प्रक्रिया के समय मतभेद के कई उदाहरण सामने आए। फिर, मंत्री गवर्नर के प्रति उत्तरदायी थे, न कि विधायिका के प्रति। अधिनियम के प्रावधान लोगों की आकांक्षाओं से अभी भी बहुत दूर थे।

साइमन कमीशन 1927

1919 के अधिनियम की धारा 84 के अनुसार स्थापित संस्थाओं के कार्य का मूल्यांकन करने के लिए एक आयोग की स्थापना का प्रावधान था। राष्ट्रीय आंदोलन और ब्रिटेन में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के फलस्वरूप इस आयोग की स्थापना 1927 ई. में की गई। सर जान साईमन की अध्यक्षता में इस आयोग में लेबर पार्टी के दो और लिबरल और कन्जर्वेटिव पार्टियों के

एक-एक सदस्य शामिल थे। आयोग का संगठन, जिसमें एक भी भारतीय सदस्य नहीं था, उसके विरोध का एक मुख्य विषय हो गया। फरवरी 3, 1928 ई. को आयोग भारत पहुंचा। उसके विरोध में पूरे भारत में हड़ताल का आह्वान किया। दिसंबर 1928 ई. में कलकत्ता अधिवेशन के समय कांग्रेस के नेता आपस में बंटे हुए थे। कुछ नेताओं को भारत की औपनिवेशिक स्थिति (Domimion Status) मान्य थी, जिसका अर्थ था ब्रिटेन के नियंत्रण में सीमित स्वतंत्रता। दूसरी तरफ कांग्रेस के ज्यादातर वाम पक्ष के नेता थे और उनकी मांग थी तत्काल स्वतंत्रता। पं. जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस इसी विचारधारा में शामिल थे। जिस समय साइमन आयोग भारत का भ्रमण कर रहा था, उस समय चारों ओर विरोध उभर आया और सारा भारत "साइमन वापस जाओं" के महाघोष से गूंज उठा। ब्रिटिश सरकार भी दमनकारी व्यवहार अपनाने में नहीं हिचकिचाई। आयोग की रिपोर्ट अंततः जून 1930 ई. में प्रकाशित हुई।

साइमन रिपोर्ट ने केंद्र और प्रांतों की कार्यपालिका और विधायिका की व्यवस्थाओं में परिवर्तन का प्रस्ताव रखा। केंद्रीय विधायी एसेंबली का नया नाम रखा गया संघीय एसेंबली, जिनके सदस्यों का निर्वा[illegible] प्रांतों से सदस्यों का चुनाव प्रांतीय काउंसिल के सदस्यों [illegible] अनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत पर हो। प्रांतो में द्वैध शासन प्रणाली की व्यवस्था का अंत किया जाए। विधायिका में जिस दल का बहुमत हो उसके सदस्यों में से मंत्रियों की नियुक्ति गवर्नर द्वारा हो, और शासन के सभी विषयों पर मंत्रियों का अधिकार हो। प्रांतीय विधायिका के निर्वाचकों की संख्या को बढ़ाकर तिगुना कर दिया जाए। सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व में कोई अंतर नहीं हो। आयोग ने काउन्सिल फ़ार ग्रेटर इन्डिया (Council for Greater India) नाम की एक नई संस्था का प्रस्ताव रखा, जिसमें प्रांतों और देशी रियासतों जैसे अन्य क्षेत्रों के सदस्य हों। आयोग ने एक संघ की कल्पना की, लेकिन उसकी तत्काल स्थापना का प्रस्ताव नहीं रखा।

नेहरू रिपोर्ट

कांग्रेस पार्टी ने सेक्रेटरी आफ स्टेट, लार्ड बर्कनहेड की इस चुनौती को स्वीकार किया कि एक ऐसे संविधान की रचना की जाए जो भारत के हर दल को स्वीकार हो। इसके लिए फरवरी 28, 1928 ई. को दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया गया। पं. मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में नौ सदस्यों की एक समिति बनाई गई। नेहरू रिपोर्ट ने एक धर्म निरपेक्ष संविधान और सभी संप्रदायों का सम्मिलित निर्वाचन क्षेत्र का प्रस्ताव किया। सांप्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र को अस्वीकार कर दिया गया। कु[illegible] मूल अधिकारों का प्रस्ताव किया गया। प्रधान मंत्री के नेतृत्व में एक संसदीय व्यवस्था का प्रस्ताव किया गया। केंद्रीय विधायिका में दो सदन हो प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित निम्न सदन और प्रांतीय विधायिका के सदस्यों द्वारा निर्वाचित उच्च सदन। प्रांतों की स्थापना के लिए भाषा को आधार माना जाए। रिपोर्ट ने संसदीय व्यवस्था को स्वीकार किया जिसमें केंद्र और प्रांतों की परिभाषा स्पष्ट रूप से हो। प्रांतों के लिए मुख्य मंत्री के नेतृत्व में केबिनेट व्यवस्था का प्रस्ताव था। रिपोर्ट में देशी रियासत, उच्चतम न्यायालय, लोक सेवा कभी प्रस्ताव किया गया था।

नेहरू रिपोर्ट लखनऊ के सर्वदलीय सम्मेलन में स्वीकार की गई, लेकिन दिसंबर 1928 ई. कलकत्ता के सर्वदलीय सम्मेलन मे इस पर गंभीर आपत्ति उठाई गई। नेहरू रिपोर्ट के "सांप्रदायिक समझौता" के प्रस्ताव पर एम.ए. जिन्ना ने आपत्ति की।

गोल मेज सम्मेलन, 1930-1932

साइमन आयोग की रिपोर्ट के प्रकाशित होने से पहले ही भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड इरविन ने घोषणा की कि रिपोर्ट के सुझाव विभिन्न भारतीय और ब्रिटिश हित समूहों के प्रतिनिधियों के गोल मेज सम्मेलन में विचार के लिए रखे जाएंगे। पहला सम्मेलन नवंबर 12, 1930 को हुआ, जिसमें मुख्यतः ब्रिटेन द्वारा मनोनीत सदस्यों ने भाग लिया। संघीय व्यवस्था के प्रश्न पर सहमति हुई, प्रांतों को स्वायत्तता दी गई। लेकिन धार्मिक और अन्य वर्गों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व एक ऐसा विषय था जिस पर सदस्यों में असहमति थी। पहले सम्मेलन में कांग्रेस ने भाग नहीं लिया था। फरवरी 1931 ई. के गांधी-इरविन समझौते के फलस्वरूप दूसरे गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि थे महात्मा गांधी। श्रीमति सरोजनी नायडू और पं. मदन मोहन मालवीय ने ब्रिटिश सरकार के मनोनीत प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। दूसरे समुदायों के प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया गया। इस सम्मेलन से ही "सांप्रदायिक अधिनिर्णय" (Communal Award) और पूना समझौता का आर्विभाव हुआ, जिसके द्वारा धार्मिक समूहों और हिंदुओं

के विभिन्न वर्ण समूहों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया। कांग्रेस और अन्य राष्ट्रीय समूहों ने इन प्रावधानों का घोर विरोध किया। तीसरा और अंतिम गोल मेज सम्मेलन नवंबर 1932 ई. में हुआ। एक श्वेत पत्र जारी किया गया, जिस पर ब्रिटेन की संसद की संयुक्त प्रवर समिति (Joint Select Committee) ने विचार किया। इस समिति के अध्यक्ष थे लार्ड लिनलिथगो। इसके सुझावों के आधार पर 1935 ई. का अधिनियम बनाया गया था।

भारत सरकार अधिनियम 1935

इस अधिनियम द्वारा कुछ महत्वपूर्ण सांविधानिक सुधार लाए गए। यद्यपि ब्रिटेन के क्राउन और संसद के समग्र नियंत्रण को रखा गया, सेक्रेटरी आफ स्टेट के अधिकारों में कमी की गई, विशेष रूप से प्रांतो के अधिकारों में। संघीय व्यवस्था को स्वीकार किया गया, जिसमें 11 प्रांत, 6 चीफ कमिश्नर के प्रांत और विदेशी रियासतें सम्मिलित होंगी जो संघ में आना चाहें। सरकार के कार्यों को तीन सूचियों में बाँट दिया गया — संघीय सूची, प्रांतीय सूची और समवर्ती सूची। अवशिष्ट विषय, जिनकी चर्चा इन प्रांतीय सूचियों में नहीं थी, और कुछ आपातकालीन अधिकार, गवर्नर-जनरल को दिए गए। केंद्रीय कार्यपालिका के अधिकार गवर्नर-जनरल और मंत्रियों में निहित हों। इस अधिनियम ने केंद्र में द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना की। सुरक्षित विषय गवर्नर-जनरल और हस्तांतरित विषय मंत्रियों के अधिकार क्षेत्र में दिए गए। सुरक्षित विषयों के प्रशासन में परामर्श देने के लिए गवर्नर-जनरल कांउसिलर की नियुक्ति कर सकता था। केंद्र और प्रांतों दोनों की विधायिकाओं के लिए दो सदनों की स्थापना की गई। निर्वाचकों में वृद्धि तो हुई लेकिन वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को पूरी तरह नहीं माना गया। सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का विस्तार हुआ और छोटे समुदायों को भी विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया। इस अधिनियम ने प्रांतों में द्वैध शासन प्रणाली को समाप्त कर दिया, और प्रांतीय स्वायत्तता के सिद्धांत को स्वीकार किया। प्रांतों को प्रशासन के लिए स्वायत्तशासी इकाई माना गया। मंत्री का उत्तरदायित्व प्रांतीय विधायिका के प्रति था और वे प्रशासन के विभिन्न विषयों के अधिकारी थे। गवर्नर के पास स्वनिर्णय के अधिकार अभी भी थे।

इस अधिनियम के अनुसार संघीय व्यवस्था उसी हालत में लागू होनी थी जब आधे से अधिक देशी रियासतें संघ में सम्मिलित होने के लिए सहमत हों। रियासतें संघ में सम्मिलित होने के लिए सहमत नहीं हुई और इस प्रावधान को स्थगित रखा गया। अधिनियम का तीसरा भाग जिसमें प्रांतीय स्वायत्तता का प्रावधान था, अप्रैल 1, 1937 ई० को लागू किया गया। चुनाव में कांग्रेस पार्टी को 5 प्रांतों में पूर्ण बहुमत मिला और 3 प्रांतों में इस पार्टी के सर्वाधिक प्रतिनिधि चुने गए। मुस्लिम लीग के लिए चुनाव परिणाम अच्छा नहीं रहा। चुनाव परिणामों के द्वारा एक बार फिर भारतीय समाज का धर्मनिरपेक्ष आधार सामने आया। कांग्रेस पार्टी की 8 प्रांतों में सरकार बनी जो अक्तूबर 1939 ई० तक सत्ता में रही। जब सितंबर 1939 ई० में यूरोप में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ हुआ तो कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के मतभेद तीव्र हो गए। कांग्रेस नहीं चाहती थी कि भारत युद्ध में भाग ले। लेकिन मुस्लिम लीग ने इस विषय पर कांग्रेस का साथ नहीं दिया गया। वाइसराय लार्ड लिनलिथगों ने अक्तूबर 17, 1939 ई० के अपने बयान में ब्रिटिश नीति की घोषणा की। इसके बाद प्रांतों के कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया।

इधर कांग्रेस के नेतृत्व में आंदोलन तीव्र हो रहा था, और वाइसराय ने आगस्त 8, 1940 को बयान जारी किया, जो "अंगस्त प्रस्ताव" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह स्वीकार किया गया कि संविधान निर्माण मुख्यतया भारतीयों का उत्तरदायित्व है, जो भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की अवधारणा पर आधारित होना चाहिए। बचन दिया गया कि यह काम युद्ध के तुरंत बाद शुरू किया जाएगा। यह भी कहा गया कि गवर्नर-जनरल के कार्यकारी परिषद में कुछ और भारतीय प्रतिनिधि शामिल किए जाएंगें।

अगस्त प्रस्ताव को सर्वथा असंतोषजनक माना गया और महात्मा गांधी ने व्यक्तिगत असहयोग आंदोलन की घोषणा कर दी। कांग्रेस सत्याग्रही बड़ी संख्या में बंदी बनाए गए, जिनमें बहुत से महत्त्वपूर्ण नेता भी थे। इस बीच युद्ध की स्थिति और भी बिगड़ चुकी थी। ब्रिटेन पर भारत समस्या सुलझाने के लिए मित्र राष्ट्रों का भी दबाव पड़ा। ब्रिटेन के प्रधान मंत्री सर विंसटन चर्चिल ने मार्च 1942 ई० में घोषणा की कि भारत में सांविधानिक समाधान के लिए सर स्ट्रैफोर्ड क्रिप्स भारत का दौरा करेंगे।

क्रिप्स मिशन 1942

सर क्रिप्स ने *भारत में विभिन्न दलों और जनता के प्रमुख* प्रतिनिधियों से विचारविमर्श के बाद अपने प्रस्ताव रखे। युद्ध के बाद प्रांतीय विधायिका *एक संस्था निर्वाचित करेगी, जिसका* काम संविधान निर्माण होगा। इस संस्था के सदस्यों की संख्या सभी विधायिकाओं के निचले सदन (Lower House) के दसवें हिस्से के बराबर होगी, और इनका चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होगा। इसमें देशी *रियासतों* के प्रतिनिधि भी होंगें। प्रांतों और देशी रियासतों को यह स्वायत्ता दी गई कि वे संविधान को स्वीकार करें या नहीं। इन प्रस्तावों ने "अगस्त प्रस्ताव" को ठोस आकार दिया, लेकिन भारतीय जनमत के सभी वर्गों ने इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। कांग्रेस, मुस्लिम लीग और लोकमत के अन्य वर्ग, सबने अपने-अपने कारणों से क्रिप्स प्रस्ताव को अस्वीकार किया। देशी रियासतों के प्रतिनिधियों का राजाओं द्वारा मनोनयन कांग्रेस को मान्य नहीं था। कांग्रेस,प्रांतों और रियासतों के इस अधिकार के भी खिलाफ थी कि संविधान को स्वीकार करें या नहीं। लीग को यह शिकायत थी कि क्रिप्स प्रस्ताव ने पृथक मुस्लिम राष्ट्र को स्वीकृति नहीं दी। लीग पृथक निर्वाचक क्षेत्र भी चाहती थी। अन्य दलों को यह आपत्ति थी कि क्रिप्स ने भविष्य के लिए प्रस्ताव रखा था, जबकि उन्होंने तत्काल सुधार की आवश्यकता पर बल दिया था। अप्रैल 11, 1942 ई० को क्रिप्स प्रस्ताव एकाएक वापस ले लिया गया।

अगस्त 1942 ई० में कांग्रेस ने इसका जवाब "भारत छोड़ो" आंदोलन से दिया और उसके सभी अग्रणी नेता बंदी बना लिए गए। यह अभूतपूर्व जनक्रांति कई स्थानों पर हिंसक हो उठी। सरकार ने दमन नीति का खुल कर प्रयोग किया। महात्मा गांधी ने 21 दिन का उपवास रखा और उन्हें मई 6, 1944 ई० को रिहा कर दिया गया। उन्होंने जिन्ना के साथ अपनी वार्ता जारी रखी। लार्ड वेवेल ने 1945 ई० में नए प्रस्तावों की घोषणा की।

वेवेल योजना ने वाइसराय की कार्यकारी परिषद् को विभिन्न समुदायों की अधिक "प्रतिनिधि" संस्था बनाने का प्रस्ताव रखा। विदेश विभाग भारतीय मंत्री के अधिकार में कर दिया गया। वाइसराय के कार्यकारी परिषद् में भारतीय सदस्यों के नाम का सुझाव देने के लिए शिमला सम्मेलन बुलाया गया। जिन्ना के कठोर रवैए के कारण यह सम्मेलन सफल नहीं हुआ। लेकिन इससे कांग्रेस के नेता पाकिस्तान के निर्माण की अनिवार्यता के कायल हो गए।

1945-1946 ई० का वर्ष बहुत कारणों से महत्त्वपूर्ण रहा। नवंबर 1945 ई० में भारतीय राष्ट्रीय सेना के अधिकारियों पर मुकदमा चला और लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। इसके तीन अधिकारियों, पी० के० सहगल, शाहनवाज़ खां और गुरूबक्श सिंह ढिल्लों का बचाव कांग्रेस के प्रसिद्ध नेता भूलाभाई देसाई ने किया। इनको मृत्युदंड दिया गया था जिसे लोगों के विरोध के कारण स्थगित करना पड़ा। फरवरी 18-23, 1946 ई० के बीच बंबई में नौसैनिक विद्रोह उभरा। इसी बीच ब्रिटेन में कंजर्वेटिव पार्टी के विंसटन चर्चिल के स्थान पर लेबर पार्टी के क्लीमेंट एटली प्रधान मंत्री बने। नई सरकार ने घोषणा की कि 1945-46 ई० की शीत ऋतु में एक संसदीय प्रतिनिधि मंडल भेजा जाएगा जो भारत की स्थिति पर अपनी रिपोर्ट पेश करेगा। इसका मुख्य उद्देश्य होगा "भारत को यथासंभव शीघ्र और पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति में सहायता करना।" इस केबीनेट मिशन (Cabinet Mission) के अध्यक्ष हुए तत्कालीन सक्रेटरी आफ स्टेट, लार्ड पेथिक लारेन्स। ए० वी० एलेक्जेंडर और सर स्ट्रैफोर्ड क्रिप्स को सदस्यों के रूप में रखा गया। केबिनेट मिशन मार्च 24 को भारत पहुंचा और इसने मई 16, 1946 ई० को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

केबिनेट *मिशन* के प्रस्ताव ने *मुस्लिम लीग* के पाकिस्तान निर्माण की मांग को अस्वीकार कर दिया। इसने भारतीय संघ (Union) की *स्थापना का सुझाव दिया जिसमें अवशिष्ट* अधिकार प्रांतों के पास हों। इस रिपोर्ट में संविधान सभा के संगठन के बारे में यह *सुझाव दिया गया* कि इसके सदस्य विभिन्न समुदायों द्वारा उनकी जनसंख्या के आधार पर चुने जाएं। इस परिषद् के काम के बारे में भी सुझाव दिए गए। जब तक संविधान का निर्माण होगा, उस समय के लिए अंतरिम सरकार की स्थापना अविलंब की जाएगी।

अंतरिम सरकार के संगठन के लिए जब शिमला में वार्ता आरंभ हुई तो कांग्रेस और मुस्लिम लीग में उनके प्रतिनिधियों की संख्या के प्रश्न पर मतभेद था। एक प्रभारी (Care taker) सरकार की स्थापना की गई, जिसका मुख्य उत्तरदायित्व था संविधान सभा के चुनाव का निरीक्षण करना। संविधान सभा में कांग्रेस और लीग के निर्वाचित सदस्य थे। लेकिन लीग ने उसकी बैठक के बहिष्कार की घोषणा की। अंतत: संविधान

सभा की बैठक दिसंबर 1946 ई० में हुई, जिसमें डा० राजेन्द्र प्रसाद इसके अध्यक्ष चुने गए।

अंतरिम सरकार और संविधान सभा दोनों के कार्य में मुस्लिम लीग के बहिष्कार से अनिश्चितता की स्थिति बनी रही। इस बीच ब्रिटेन की सरकार ने ऐसे कदम उठाए जिससे घटनाक्रम में तेजी आई। प्रधान मंत्री एटली ने फरवरी 20, 1947 ई० को यह घोषणा की कि "जून 1948 ई० से पहले उत्तरदायी भारतीय हाथों में सत्ता हस्तांतरण के इरादे को कार्यान्वित करना है।" इस घोषणा को कार्यरूप देने का काम नए वाइसराय, लार्ड लुई माउण्टबेटेन के ऊपर छोड़ा गया। उनका मुख्य काम था एक मुस्लिम देश के निर्माण के बारे में कांग्रेस और लीग के नेताओं से बातचीत करना।

माउण्टबेटेन प्रस्ताव की घोषणा जून 3, 1947 ई० को की गई, जिसमें भारत के विभाजन को अनिवार्य माना गया। इसमें विभाजन की विस्तृत प्रक्रिया के बारे में प्रस्ताव था। पंजाब और बंगाल की विधान सभा समान्य बहुमत से यह निर्णय लेगी कि इन प्रांतों का विभाजन होगा या नहीं। सिलचर और उत्तर पश्चिमी प्रांत जैसे अन्य क्षेत्र मतगणना के द्वारा यह निर्णय लेंगे।

पाकिस्तान की अलग संविधान सभा जुलाई 26, 1947 ई० को स्थापित हुई। जुलाई 4 को भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम को संसद में प्रस्तुत किया गया और उसे जुलाई 18, 1947 ई० को राजकीय स्वीकृति दे दी गई। इसके द्वारा 1935 ई० के अधिनियम के संशोधन द्वारा भारत और पाकिस्तान के लिए अंतरिम सरकार की स्थापना की गई।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947

यह अधिनियम एक छोटा और सीधा सादा दस्तावेज था, जिसमें 20 धाराएं थीं। इसके अनुसार अगस्त 15, 1947 ई० को भारत और पाकिस्तान को सत्ता हस्तांतरित की जाएगी। उनकी संविधान सभाओं द्वारा दोनों देशों के लिए संविधान का निर्माण किया जाएगा। ये सभाएं अंतरिम समय में विधायिका का कार्य भी करेंगी। देशी रियासतें इसका निर्णय स्वयं करेंगी कि वे स्वतंत्र रहेंगी या दोनों में से किसी एक देश में सम्मिलित होंगी। सेक्रेटरी आफ स्टेट का पद समाप्त कर दिया गया। गवर्नर-जनरल और प्रांतों के गवर्नर सांविधानिक प्रधान के रूप में काम करेंगे। वे मंत्रिपरिषद् के परामर्श पर काम करेंगे।

मुस्लिम लीग के हट जाने के बाद, संविधान सभा में 299 सदस्य रह गए थे। इसकी बैठक एक बार फिर अक्तूबर 31, 1947 ई० को हुई और पूरे उत्साह और गंभीरता के साथ संविधान निर्माण का कार्य शुरू हुआ। सभा ने अपना कार्य विभिन्न समितियों में बांट दिया : संघ संविधान समिति, संघ अधिकार समिति, मूल अधिकार समिति आदि। डा० बी०आर० अंबेडकर की अध्यक्षता में एक प्रारूप समिति की स्थापना की गई। संविधान का प्रारूप फरवरी 1948 ई० में तैयार हो गया। इस पर पूर्ण रूप से आम वाद विवाद होने के बाद, संविधान सभा की बैठक नवंबर 1948 में फिर हुई और संविधान की एक-एक धारा पर विचार किया गया। संविधान पर द्वितीय वाचन *अक्तूबर 1949* में और तृतीय वाचन *नवंबर 1949 ई०* में सपन्न हुआ। भारत का नया संविधान जनवरी 26, 1950 ई० को लागू किया गया।

भारतीय संविधान की बहुत सी संस्थाओं का विकास सांविधानिक विकास के लंबे समय में हुआ, जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है संघीय व्यवस्था। यह कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा 1916 ई० के लखनऊ समझौते में स्वीकार की गई थी। साइमन कमीशन ने भी संघीय व्यवस्था पर बल दिया और 1935 ई० के अधिनियम ने संघीय व्यवस्था की स्थापना की, जिसमें प्रांतों के अधिकार ब्रिटेन के क्राउन द्वारा प्राप्त हुए थे। जब भारत स्वतंत्र हुआ तब तक राष्ट्रीय आंदोलन के नेता संघीय व्यवस्था के लिए वचनबद्ध हो चुके थे। संसदीय व्यवस्था, जो कार्यपालिका और *विधायिका के संबंधों की परिभाषा करती है, भारत में अपरिचित नहीं थी।* इस तरह *भारतीय संविधान, संविधान निर्माताओं* की बुद्धिमानी और सूक्ष्मदृष्टि और कालक्रम में विकसित संस्थाओं और कार्यविधियों का एक अपूर्व समिश्रण है।

इस अध्याय को पढ़ने के बाद, आप क्या सोचते हैं कि भारत में साम्प्रदायिक समस्या की उत्पत्ति के लिए कौन उत्तरदायी है—ब्रिटिश सरकार अथवा स्वयं भारत? इस प्रश्न पर अपने शिक्षकों के साथ चर्चा कीजिए।

अभ्यास

1. भारत सरकार अधिनियम 1919 के द्वारा लागू की गई द्वैध शासन प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए?
2. भारत सरकार अधिनियम 1935 से पूर्व प्रमुख राजनैतिक घटनाओं का वर्णन कीजिए?
3. अधिनियम 1935 के द्वारा लागू की गई "प्रान्तीय स्वायत्तता" का विवेचन कीजिए? अधिनियम की अन्य धाराओं का भी उल्लेख कीजिए?
4. निम्नलिखित विषयों पर टिप्पणी कीजिए :
   (क) नेहरू रिपोर्ट
   (ख) अधिनियम 1909 की प्रमुख विशेषताएँ
   (ग) केबिनेट मिशन
   (द) भारतीय संविधान सभा

अध्याय 11

राष्ट्रीय आंदोलन : एक धरोहर

स्वतंत्रता के बाद के भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के मूल लक्षण राष्ट्रीय आंदोलन की लंबी अवधि में विकसित हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य की आरंभिक स्थिति से आंदोलन जैसे-जैसे आगे बढ़ा, नए क्षेत्र और नए सामाजिक समूह उसमें सम्मिलित होते गए। आंदोलन का प्रभाव बंगाल, बंबई और पंजाब में तो था ही, वह गुजरात, बिहार, उत्तर प्रदेश, केंद्रीय प्रांत और आंध्र क्षेत्र में भी फैल गया। बंगाल बंबई, मद्रास के प्रेसीडेंसी क्षेत्र, और प्रांतों के अलावा, देशी रियासतें भी आंदोलन से आच्छादित हो गईं। इस प्रकार विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों में बँटा हुआ पूरा क्षेत्र राष्ट्रीय भावना के एक सूत्र में बंध गया। इससे एक क्षेत्रीय एकात्मकता आई जो एक राष्ट्र के लिए आवश्यक होती है।

विस्तृत सामाजिक आधार

राष्ट्रीय आंदोलन सिर्फ नए क्षेत्रों में ही नहीं फैले, विभिन्न सामाजिक समूह भी इसमें सम्मिलित होते गए। भारतीय समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विभिन्नताएं रही हैं। यहां विभिन्न धार्मिक समूह भी हैं। ब्रिटिश शासन के समय यह विभिन्नता अधिक थी। समाज हिंदू और मुसलमानों में बंटा था। मुसलमानों में भी सामाजिक विभाजन था। समाज में विभिन्न आर्थिक समूह थे, जिसमें बहुत विषमता थी। शिक्षा की दृष्टि से भी असमानता थी। इन समूहों के सामाजिक और आर्थिक हित भिन्न थे। राष्ट्रीय आंदोलन में अधिकाधिक समूह सम्मिलित होते गए। बीसवीं शताब्दी तक कांग्रेस एक जन आंदोलन का रूप ले चुकी थी। महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन इसका चरम बिंदु था, जिसमें सामाजिक-आर्थिक विभिन्नता को भुला कर, सभी सामाजिक समूह सम्मिलित हुए। विदेशी शासन से स्वतंत्रता के लक्ष्य ने विभिन्न समूहों को एक कर दिया। विभिन्न समूहों में लक्ष्य की एकता की भावना लाने में राष्ट्रीय आंदोलन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस आंदोलन ने एक ऐसे लक्ष्य की ओर ध्यान आकर्षित किया कि विभिन्न आर्थिक समूह एक मंच पर इकट्ठे हो गए। भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों में बहुत दिनों से असंतोष की भावना थी, जिसके कई कारण थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पहले भी जनता के विरोध के उदाहरण मिलते हैं। बंगाल में जमींदारों के खिलाफ़ भूमि संबंधी संगठन (Agrarian League), महाराष्ट्र के दक्षिण क्षेत्र में साहूकारों के खिलाफ दंगा, आंध्र प्रदेश के "रंपा" क्षेत्र में जन जातियों का विद्रोह, ऐसे कुछ विद्रोहों के उदाहरण हैं। किसानों और औद्योगिक श्रमिक वर्गों का अपना संगठन था। उनका विद्रोह अपने निकटतस्थ दमनकारी वर्गों के खिलाफ़ था — जमींदार, साहूकार और उद्योगपति। राष्ट्रीय आंदोलन ने इनके समक्ष "ब्रिटिश राज्य को उखाड़ फेंकने" का एक उच्च लक्ष्य रखा। इस लक्ष्य के द्वारा किसान और जमींदार, श्रमिक और उद्योगपति, सभी राष्ट्रीय आंदोलन में सम्मिलित हो गए। भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों का आपसी संघर्ष ब्रिटिश सरकार के लिए निश्चय ही लाभकारी था। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन ने इसके स्थान पर विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समूहों में एकता की भावना को स्थापित किया।

सामाजिक आंदोलन

कोई भी आंदोलन विशेष सामाजिक-आर्थिक समूहों के हितों की उपेक्षा नहीं कर सकता। किसान, श्रमिक, उद्योगपति, जमींदार — इन सभी वर्गों का अपना-अपना हित था, जिसे वे अग्रसित और सुरक्षित रखना चाहते थे। राष्ट्रीय आंदोलन ने इन वर्गों को संगठित करने के साथ ही उनके हितों का भी ध्यान रखा। महात्मा गांधी ने 1917-1918 ई. में बिहार में गरीब किसानों के हितों की रक्षा के लिए चंपारण सत्याग्रह किया। इसके बाद ही 1919 ई. में "खेदा सत्याग्रह" हुआ। उत्तर प्रदेश के रायबरेली और फ़ैजाबाद क्षेत्र में 1920 ई. में किसान आंदोलन अधिक व्यापक थे। 1921 ई. में मालाबार क्षेत्र में "मोपला विद्रोह" में जो कृषि श्रमिक और काश्तकार सम्मिलित हुए, वे अधिकतर मुसलमान थे। किसान सभाओं की स्थापना हुई, जो बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश, और बिहार क्षेत्रों में सक्रिय थीं।

औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिक संगठनों की स्थापना हुई। उद्योगों की स्थापना, और व्यापार बैंकों के विस्तार के साथ ही भारतीय मध्य वर्ग उभर आया, जिसका संबंध व्यापार और उद्योग से था। बंगाल के व्यापार संगठन (Chamber of Commerce) की स्थापना 1887 में, और भारतीय व्यापारी संघ (Indian Merchants Chamber) की स्थापना बंबई में 1907 ई. में हुई। कलकत्ता में 1900 ई. में मारवाड़ी व्यापार संगठन और मद्रास में दक्षिण व्यापार संगठन की स्थापना की गई। अंततः 1925 ई० में एक भारतीय व्यापार संघ की स्थापना हुई। स्वदेशी आंदोलन ने ब्रिटेन में बनी वस्तुओं के बहिष्कार पर बल दिया, जिसके द्वारा भारतीय उद्योगपति, विशेषकर कपड़ा उद्योग, आकर्षित हुए। बिड़ला, बजाज, अंबालाल, साराभाई, कस्तूरभाई जैसे उद्योगपतियों का कांग्रेस को समर्थन मिलने लगा। हितों की रक्षा के लिए संगठन ज़ोर पकड़ रहे थे और साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन के मंच पर वे सम्मिलित भी हो रहे थे। आंदोलन विशेष हितों की रक्षा और स्वतंत्रता की प्राप्ति, दोनों ही लक्ष्यों के लिए प्रभावकारी था।

समाज सुधार

स्वतंत्रता संग्राम के नेता समाज के विभिन्न वर्गों के समर्थन के प्रयास के साथ ही समाज सुधार के बारे में सजग थे। स्वतंत्रता संग्राम के कई नेता सर्वमान्य समाज सुधारक थे। राजा राममोहन राय ने, जिन्हें "भारतीय राष्ट्रीयता का पिता" कहा जाता है, 1828 ई. में ब्रह्म समाज की स्थापना की। यह आंदोलन हिन्दू समाज की सती प्रथा और बालविवाह जैसी बुराइयों के निषेध के लिए उत्तरदायी था। ब्रह्म समाज ने विद्यालयों की स्थापना और पत्रिकाओं और पुस्तकों के प्रकाशन के माध्यम से शिक्षा के प्रसार का भी काम किया। एम. जी. रानाडे ने 1867 ई. में बंबई में प्रार्थना सभा की स्थापना की। दयानन्द सरस्वती ने 1875 ई. में आर्य समाज की स्थापना की थी। 1886 ई. में पहला दयानंद आंग्ल वैदिक कालेज की स्थापना के बाद डी. ए. वी. स्कूल और कालेजों की श्रृंखला प्रसिद्ध हो गई। ए. आर. देसाई का कहना है, "राष्ट्रीय आंदोलन के आरम्भ में आर्य समाज ने एक प्रगतिशील भूमिका निभाई थी"। स्वामी विवेकानंद द्वारा स्थापित राम कृष्ण मिशन का लक्ष्य था "भारत को पश्चिमी सभ्यता के भौतिकवादी प्रभाव से बचाना।" श्रीमति एनी बेसेंट द्वारा स्थापित थियोसाफीकल सोसाइटी मुख्यतः एक आध्यात्मिक आंदोलन था। इसका घनिष्ट संबंध बालविवाह, पर्दाप्रथा, और निरक्षता, जैसी कुरीतियों को मिटाने से था। कांग्रेस के कार्यक्रमों में, विशेषतः होम रूल (Home Rule) और स्वदेशी आंदोलन में इसका योगदान था। मुस्लिम समुदाय में जिन संस्थाओं द्वारा सुधार लाए गए वे थे अहमदिया आंदोलन, अंजुमन-ए-हिमायते इस्लाम, नवदख्त उल उलेमा, अलीगढ़ आंदोलन, अब्दुल गफ्फार खाँ का खुदाई खिदमतमार आंदोलन, और खाकसार आंदोलन। सिक्खों द्वारा शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबंधक सुधार आंदोलन और सिंह सभाओं की स्थापना की गई। राष्ट्रीय आंदोलन के सभी नेता समाज सुधार के कार्य के लिए भी प्रसिद्ध थे। ऐसे कुछ नेताओं के नाम हैं — राजा राममोहन राय, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, अरविन्द घोष, लाला लाजपत राय, मुहम्मद इक़बाल, और महात्मा गांधी।

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के प्रगतिशील विचार सुधार के तीन कार्यक्रमों से स्पष्ट होते हैं — वर्ण व्यवस्था, स्त्रियों की स्थिति, और अस्पृश्यता। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, और आर्य समाज सबने समाज के विभिन्न वर्णों में बटवारे का विरोध किया। महाराष्ट्र में जोतिबा फूले के "सत्याशोधक समाज" और मद्रास के "स्वसम्मान आंदोलन" (Self Respect Movement) ने उच्च वर्ण के प्रभुत्व के खिलाफ़ आवाज उठाई।

सती प्रथा, पर्दा प्रथा, बालविवाह, देवदासी, और विधवाओं की दयनीय स्थिति, जैसी कुरीतियों का विरोध नारी मुक्ति की दिशा में महत्वपूर्ण कदम थे। नेताओं ने नारी शिक्षा पर भी जोर दिया। 1919 ई. के बाद राजनीति में अधिक महिलाओं ने भाग लेना शुरू कर दिया। महिलाओं को राजनीति की मुख्यधारा में लाने में महात्मा गांधी की विशेष भूमिका रही है। महिलाएं किसान आंदोलनों में भी सक्रिय थीं।

छुआछूत वर्ण व्यवस्था की सबसे प्रमुख विकृति के रूप में प्रकट हुई। समाज सुधार आंदोलनों और कांग्रेस ने छुआछूत दूर करने पर बल दिया। महात्मा गांधी ने, जिन्होंने इस समूह को हरिजन की संज्ञा दी, इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। बी.आर. अंबेडकर को इनका प्रवक्ता माना गया। अछूतों के लिए आवाज उठाने में अखिल भारतीय दलित वर्ण संघ (All India Depressed Classes Federation) का योगदान महत्वपूर्ण था। प्रांतों में 1937 ई. की कांग्रेस सरकारों ने भी इस ओर विशेष ध्यान दिया। राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं द्वारा ये प्रश्न समानता और प्रजातांत्रिक अधिकार के सिद्धांतों की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण थे। ये सिद्धांत ब्रिटेन के शासन से स्वतंत्रता की उनकी मांगों का आधार था।

धर्म निरपेक्षता

भारतीय समाज के विभिन्न धार्मिक समूहों का एकीकरण स्वतंत्रता संग्राम के लिए एक चिंता का विषय था। ब्रिटेन ने भारतीय समाज को धार्मिक समूहों में बाँट देने की नीति अपनाई। बहुत से सांप्रदायिक संगठन ब्रिटेन के समर्थन के आधार पर ही जीवित थे। इस नीति से एक समुदाय को दूसरे के खिलाफ भड़का कर, राष्ट्रीय आंदोलन को नियंत्रित रखने में आसानी होती थी। सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व 1909 ई. के "भारतीय कांउसिल्स अधिनियम" द्वारा आरंभ किया गया और बाद के संवैधानिक सुधारों में उसका विस्तार हुआ। इसके साथ ही स्वतंत्रता संग्राम के नेता इस बात पर वचनबद्ध थे कि राष्ट्र का निर्माण धर्म के आधार पर नहीं हो सकता, और ऐसा नहीं होना चाहिए। ऐसे कई मौके आये जब किसी खास विषय पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग सहमत थे। 1911 - 20 ई. का खिलाफत आंदोलन भी दोनों समुदायों में सहयोग का उदाहरण है। मांटेग्यूचेम्सफोर्ड सुधारों के समय कांग्रेस और लीग ने 1916 ई. में लखनऊ समझौता किया। कांग्रेस में हर समय मुसलमान नेताओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। धर्म निरपेक्षता कांग्रेस विचारधारा का मुख्य आधार था। 1947 ई. में सत्ता हस्तांतरण के बाद धर्म निरपेक्षता भारतीय संविधान का एक आधार स्तंभ माना गया।

समाजवादी विचार

स्वतंत्रता संग्राम के नेता उदार विचारधारा और कार्यक्रम को महत्त्वपूर्ण मानते रहे। कुछ समूहों तक ही सीमित संकीर्ण विचारों का कोई स्थान नहीं था। नेताओं में मतभेदों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई-नरमदल, उदारवादी और उग्रवादी, परिवर्तन न चाहने वाले, स्वराजवादी, कांग्रेस समाजवादी पार्टी आदि। कांग्रेस समाजवादी पार्टी के निर्माण के बाद आंदोलन का समाजवाद की ओर स्पष्ट झुकाव हो गया। इस विचारधारा को जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस जैसे प्रभावशाली नेताओं का समर्थन प्राप्त था।

सर्वसम्मति की राजनीति

स्वतंत्रता आंदोलन में विभिन्न सामाजिक आर्थिक समूहों, विभिन्न व्यवसायों, विभिन्न क्षेत्रों, और विभिन्न विचारधाराओं के लोग शामिल थे। आंदोलन की एकता की दृष्टि से कांग्रेस के लिए सभी विभिन्नताओं में सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक था। कांग्रेस में ऐसे व्यक्ति और समूह थे जिनमें विचारधारा के आधार पर मतभेद था। इनकी चर्चा हमने पहले की है। निर्णय लेने के लिए सर्वसम्मति का निरापद रास्ता बहुमत-अल्पमत के तरीके की तुलना में अच्छा समझा गया। निर्णय जब सर्वसम्मति के आधार पर लिया जाता है, तो विभिन्न दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की जाती है। इससे निर्णय अधिकाधिक व्यक्तियों और समूहों को मान्य होता है। महात्मा गांधी जैसे चिंतकों ने सर्वसम्मति की नीति को ठोस आधार दिया।

मूल मान्यताएं

भारतीय संविधान की मूल मान्यताओं का आकार स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान सुनिश्चित हो गया था, जैसे धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद के सिद्धांत और संघीय व्यवस्था जैसे संवैधानिक प्रावधान। इस चिरकालिक विकास से विभिन्न मानदण्डों को वैधता प्राप्त करने में आसानी हुई। स्वतंत्रता के बाद संविधान में इन आदर्शों के प्रावधान से पहले ही ये राष्ट्र द्वारा माने जा चुके थे। इस बात के लिए किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता

नहीं हुई कि लोगों को इन सिद्धांतों को मानने के लिए राजी किया जाए। 1952 ई० में पहला चुनाव होने से बहुत पहले ही लोग निर्वाचन प्रणाली और निर्वाचित प्रतिनिधि के कार्यों से परिचित हो चुके थे। स्वतंत्रता आंदोलन ने लोगों को लोकतांत्रिक संस्थाओं और कार्यविधियों से परिचित करवा दिया था।

सांविधानिक पद्धति

स्वतंत्रता आंदोलन ने परिवर्तन की संवैधानिक पद्धति को हर समय महत्त्वपूर्ण माना था। आंदोलन के नेताओं ने अंग्रेजी प्रशासन के प्रति असाधारण धैर्य का प्रदर्शन किया था। उन्होंने अपनी मांगों को मनवाने के लिए हर समय मान्य कार्यविधि और संस्थाओं का ही सहारा लिया। सत्याग्रह और असहयोग विरोध के गांधीवादी अनुपम तरीके से अंग्रेज प्रशासक चकरा जाते थे। गवर्नर की कार्यकारी काउंसिल, विधायिका, सरकारी नौकरी, जैसी संस्थाओं में सुधारों से पूर्णतया असंतुष्ट रहते हुए भी, नेताओं ने उग्र तरीका नहीं अपनाया। विरोध और शांतिपूर्ण प्रदर्शन ही सबको मान्य थे। कांग्रेस अपने प्रस्तावों द्वारा ही सुधार के सुझाव देती रही। अंग्रेजों के साथ वार्ता के रास्ते हर समय खुले रखे गए। इन सबसे, बाद के वर्षों में संस्थाओं के कार्य को ठोस आधार मिला।

दलीय व्यवस्था

लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये लोकतांत्रिक संस्थाओं और आम जनता के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं। कांग्रेस पार्टी जैसी सशक्त संस्था का निर्माण स्वतंत्रता आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस विशाल पार्टी के विकास से भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को स्वतंत्रता के बाद की निर्णायक अवधि में स्थायित्व प्राप्त करने में सहायता मिली। स्वतंत्रता के बाद भी कांग्रेस ने अपनी प्रधानता कायम रखी। स्वतंत्रता आंदोलन के मूल सिद्धांतों से बहुत बल मिला। इस स्थायित्व की अवधि में भारतीय लोकतंत्र को अपनी जड़ जमाने का अवसर मिला। रजनी कोठारी के शब्दों में, "कांग्रेस व्यवस्था" द्वारा भारतीय लोकतंत्र के लिए एक सुदृढ़ ढांचा तैयार हो गया।

लोकतंत्रीय नेतृत्व

स्वतंत्रता आंदोलन ने जिस प्रकार के नेतृत्व को जन्म दिया वह भारतीय लोकतंत्र के लिए मूल्यवान सिद्ध हुआ। इससे आदर्शों और संस्थाओं का ढांचा तैयार हुआ और साथ ही ऐसे लोग भी तैयार हुए जिन्हें इन आदर्शों के अनुकूल काम करने का अनुभव था। नेताओं के नामों की सूची निश्चय ही प्रभावोत्पादक है — महात्मा गांधी, पंडित नेहरू, राजेंद्रप्रसाद, और बी० आर० अम्बेडकर। इन्होंने एक स्वस्थ लोकतंत्र के लिए सही दिशा प्रदान की। चोटी के इन नेताओं के अलावा प्रांत, जिला, और गांव के स्तर पर भी नेताओं की कमी नहीं थी। स्वतंत्रता आंदोलन के समय में ही प्रतिबद्ध नेतृत्व सामने आ गया था। ये समाज के भिन्न वर्गों से आए और इनकी पृष्ठिभूमि भी भिन्न थी। स्वतंत्रता के बाद जब संस्थाओं का संगठन किया गया तो पदों को सम्भालने के लिए प्रशिक्षित और प्रतिबद्ध नेता मौजूद थे। स्वाधीनता आंदोलन नेताओं और जनता, दोनों के लिए विशाल प्रशिक्षण माध्यम बन गया।

लोक चेतना

स्वतंत्रता आंदोलन के विस्तार के साथ ही भारत की जनता के विभिन्न समूहों में राजनीतिक चेतना आती गई। यह चेतना कई दिशाओं में थी और इसके कई स्तर थे। भारतीय राष्ट्र के अलावा, लोगों में अपने अधिकारों के प्रति भी चेतना आई। जनता लोकतंत्र के नेताओं और कार्यविधि से परिचित हो गई। नागरिकता की इस चेतना के साथ ही, उसमें किसान, श्रमिक, और उद्योगपति जैसे वर्गीय हितों के बारे में भी चेतना आई। हम पहले पढ़ चुके हैं कि इन हितों पर आधारित आंदोलन स्वतंत्रता आंदोलन की मुख्यधारा का एक भाग था। समाज सुधार के आंदोलन इस चेतना के अन्य स्तरों की ओर संकेत करते हैं। जैसे सामाजिक बुराईयों की ओर ध्यान दिलाया गया, जहाँ विभिन्न वर्गों में विभिन्न प्रकार के सुधारों की आवश्यकता थी। स्वतंत्रता आंदोलन ने ऐसे स्तर पर चेतना को जन्म दिया कि वह भारतीय लोकतंत्र के लिए प्रेरक शक्ति सिद्ध हुआ।

अभ्यास

1. 1920 के पश्चात् स्वतंत्रता आन्दोलन में आए प्रमुख परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए?
2. स्वतन्त्रता आन्दोलन में समाजसुधारकों की भूमिका का वर्णन कीजिए?
3. निम्नलिखित विषय पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए :
   (अ) स्वतन्त्रता आन्दोलन में धर्मनिरपेक्ष विचार
   (ब) स्वतन्त्रता आन्दोलन में लोकतांत्रिक नेतृत्व का उदय
   (स) सर्वसम्मति की राजनीति

अध्याय 12

भारतीय संविधान की प्रस्तावना

संविधान की प्रस्तावना मूल आदर्शों और दार्शनिक अभिधारणाओं को मुख्यत : नैतिक रूप में व्यक्त करती है। संस्थाओं, पदों, और कार्यविधियों के विस्तार में इन आदर्शों पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाता है। यह सांविधानिक प्रावधानों को औचित्य प्रदान करते हैं।

भारतीय संविधान में निहित आदर्श स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान विकसित हुए और विख्यात नेताओं से प्रेरित थे। राष्ट्रीय भावना से इस बात को बल मिलता रहा कि भारत के संविधान का निर्माण स्वयं भारतीयों द्वारा ही होना चाहिए, बाहर से नहीं थोपा जाना चाहिए। भारत की जनता की संप्रभुता पर हर समय बल दिया गया। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारतीय समाज की विभिन्न प्रकार की असमानताओं और शोषण के खिलाफ भी आवाज़ उठाई गई। हमने पहले पढ़ा है कि स्वतंत्रता आंदोलन ने समाज सुधार की ओर भी ध्यान दिया और इसके अधिकांश नेता प्रसिद्ध समाज सुधारक भी थे। सुधार के प्रयासों से स्वतंत्रता आंदोलन के आदर्शों का पता चलता है। ऐसा ही एक आदर्श था सांविधानिक पद्धति जिस पर हमेशा बल दिया गया। मई 1946 ई० के केबिनेट मिशन की रिपोर्ट के बाद कांग्रेस को संविधान निर्माण के प्रयास का अवसर मिला। कांग्रेस कार्य समिति (Working Committee) ने 24 जून 1946 ई० के प्रस्ताव में अपने लक्ष्य की घोषणा की, "तत्काल स्वतंत्रता और आम जनता की आर्थिक और सामाजिक प्रगति का पथ प्रशस्त करना"। इन आदर्शों की और अधिक व्याख्या संविधान सभा की बैठक के कुछ ही समय पूर्व कांग्रेस के नवंबर 1946 ई० के अधिवेशन में हुई। इस प्रस्ताव में कहा गया कि "इसका लक्ष्य है प्रभुता संपन्न स्वतंत्र एक गणतंत्र की प्राप्ति, जिसमें सत्ता और प्राधिकार जनता से प्राप्त किए हों और एक ऐसे संविधान का निर्माण जिसमें भारत की जनता के लिए स्वतंत्रता, प्रगति, और समानता के अवसर प्रदान करने के आदर्श निहित हों.........".

संविधान सभा के सामने सबसे पहला कठिन काम था अपने मूल लक्ष्यों को स्पष्ट करना। राष्ट्रीय एकता के आदर्शों को सर्वोपरि महत्व दिया गया, क्योंकि संविधान सभा देश के विभाजन की काली छाया से त्रस्त थी। 13 दिसंबर 1947 ई० को जवाहरलाल नेहरू ने अति भावपूर्ण शैली में संविधान सभा में उद्देश्य प्रस्ताव पेश किया, जो संविधान सभा के सदस्यों की दृढ़ता का परिचय देता है। इस प्रस्ताव के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रावधान इस प्रकार हैं :

(1) यह संविधान सभा भारत को एक स्वतंत्र प्रभुता संपन्न घोषित करने की ओर उसके भावी प्रशासन के लिए एक संविधान के निर्माण करने की, दृढ़ और पवित्र प्रतिज्ञा करता है,

(2) जिसमें प्रभुता संपन्न स्वतंत्र भारत और उसके सभी हिस्सों और सरकार के अंगों को सभी प्रकार की शक्ति और प्राधिकार जनता से प्राप्त होंगे,

(3) जिसमें भारत के सभी लोगों को सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक न्याय, पद, अवसर, और कानून के समक्ष समानता कानून और सार्वजनिक नैतिकता के अंतर्गत विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, निष्ठा, पूजा,

व्यवसाय, संगठन, और कार्य की स्वतंत्रता की गारंटी दी जाएगी,

(4) जिसमें अल्पसंख्यकों, पिछड़े और जन जाति वा' क्षेत्रों और दलित और अन्य वर्गों के लिए सुरक्षा के समुचित उपाय होंगे ....

इस प्रस्ताव का संविधान सभा में स्वागत हुआ और इस पर दिसंबर 1946 ई॰ के मध्य में विचार हुआ। जिन दो कमियों की सदस्यों ने बार-बार चर्चा की, वह थी मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति और देशी राज्यों की अनिश्चित स्थिति। इससे सदस्यों में हिचकिचाहट की भावना आ गई। वादविवाद के बाद सभी ने 22 जनवरी 1947 ई॰ को यह प्रस्ताव पारित कर दिया।

इस प्रस्ताव पर आधारित प्रस्तावना बी॰ एन॰ राव ने प्रारूप समिति के सामने विचार के लिए रखी। इस चरण में संप्रभुता जैसी अवधारणाओं पर और सूक्ष्मता से विचार किया गया और "बंधुत्व" जैसे कुछ शब्द जोड़े गये। लोकतंत्र, न्याय, स्वतंत्रता, और समानता जैसे शब्दों पर विस्तार से विचार हुआ और इन अमूर्त शब्दों को ठोस आधार दिया गया। विचार के हर चरण में डा॰ बी.आर. अंबेडकर का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। संविधान सभा के कार्य के अंतिम चरणों में प्रस्तावना पारित की गई, जिससे वह संविधान के प्रावधानों के सर्वथा अनुकूल हो। करीब तीन दशकों के बाद, "समाजवाद", "धर्मनिरपेक्षता", और राष्ट्र की "अखंडता", ये शब्द 1976 के बयालिसवें संशोधन द्वारा जोड़े गये। भारतीय संविधान की मौजूदा प्रस्तावना इस प्रकार है,

हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तथा — अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई॰ (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् 2006 विक्रमी) को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के संविधानों की प्रस्तावना प्राप्त कीजिए। इनकी प्रस्तावना की तुलना भारतीय संविधान की प्रस्तावना से कीजिए।

प्रस्तावना में संवैधानिक ढाँचे के आधार स्वरूप सिद्धांतों की व्यापक अभिव्यक्ति की गई है। प्रस्तावना के विभिन्न भागों में उन स्रोतों की चर्चा की गई है जिससे संविधान प्राधिकार प्राप्त करता है। सरकार का स्वरूप और राजनीतिक व्यवस्था के लक्ष्यों की रूपरेखा भी दी गई है। संविधान एक कानूनी दस्तावेज़ है, इसलिए प्रस्तावना में इसके अंगीकरण की निश्चित तिथि दी गई है।

प्रस्तावना में घोषणा की गई है कि "भारत की जनता" संविधान के प्राधिकार का स्रोत है। संविधान सभा के प्रस्ताव में जन इच्छा को अभिव्यक्त किया गया है। यह भी स्पष्ट है कि जनता ने संविधान के अंगीकरण का निर्णय स्वयं ही किया। यह किसी बाहरी शक्ति द्वारा थोपा नहीं गया है।

संविधान में सरकार के स्वरूप की परिभाषा इस तरह की गई है– प्रभुता संपन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक, और गणतांत्रिक संप्रभुता। हमने पहले पढ़ा है कि संप्रभुता राज्य का अनिवार्य तत्व है। इसका अर्थ है, अपनी सीमा के अंतर्गत और अन्य सरकारों द्वारा राज्य संप्रभुता की निर्विवाद मान्यता। इसके द्वारा भारतीय राज्य का हर निर्णय यहां के नागरिकों को मान्य होगा। इसी प्रकार दूसरे प्रभुता संपन्न राज्यों को यह स्वीकार होगा कि भारत राज्य का अपने भूभाग और जनसंख्या पर वैध प्राधिकार है।

समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष, यह शब्द प्रस्तावना में 42वें संशोधन द्वारा जोड़े गए जो संसद द्वारा 1976 ई. में पारित किया गया। हमने पहले देखा कि स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान नेताओं द्वारा इन आदर्शों पर बार-बार बल दिया गया। संविधान सभा में विचार के समय भी इन शब्दों को संविधान में रखने का सुझाव दिया गया। के.टी. शाह ने दो अवसरों पर इस संशोधन का प्रस्ताव रखा था। इसके उत्तर में कहा गया कि संविधान के प्रावधानों में दोनों आदर्श निहित हैं। संविधान में सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक न्याय के उपबंधों से समाजवादी आदर्श सुनिश्चित होते हैं। मूल अधिकारों में जो समानता के अधिकार और शोषण के खिलाफ अधिकार दिए गए हैं, उनसे भी इन आदर्शों की पुष्टि होती है। सामाजिक और आर्थिक न्याय राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के प्रमुख प्रावधान हैं। इसी तरह, विश्वास, निष्ठा और आराधना की स्वतंत्रता की **और पद और अवसर की समानता इन से धर्म-**निरपेक्षता के सिद्धांत की पुष्टि होती है। साथ ही, अनुच्छेद 25 से 28 धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान करते हैं। फिर भी 1976 ई. में इन आदर्शों पर बल देना आवश्यक हो गया। कांग्रेस के संवैधानिक परिवर्तन समिति के अध्यक्ष स्वर्णसिंह ने कहा कि समाजवादी शब्द राष्ट्र द्वारा "एक नए सामाजिक-आर्थिक प्रस्ताव" की प्राप्ति के संकल्प को स्पष्ट करता है।

संविधान सभा में लोकतंत्र के आदर्शों पर वादविवाद में जवाहरलाल नेहरू और डा. बी.आर. अंबेडकर जैसे महत्वपूर्ण नेताओं ने भाग लिया। लोकतंत्र के राजनीतिक और आर्थिक दोनों पक्षों के महत्व पर बल दिया गया। नागरिकों के लिए मत देने का अधिकार आवश्यक है, लेकिन पर्याप्त नहीं। इस अधिकार पर आर्थिक लोकतंत्र के साथ विचार होना चाहिए। डा. बी.आर. अंबेडकर ने सामाजिक लोकतंत्र की व्याख्या इस प्रकार की, "ऐसी जीवन पद्धति जो स्वतंत्रता, समानता, और बंधुत्व को जीवन के सिद्धांत के रूप में स्वीकार करती हो।" इस प्रकार संविधान सभा ने लोकतंत्र के आदर्शों को व्यापक दृष्टि से देखा। वयस्क मताधिकार ने लोकतंत्र को मूल आधार प्रदान किया। संविधान में स्वतंत्र और न्यायोचित चुनाव कराने के लिए निर्वाचन आयोग जैसे स्वतंत्र और निष्पक्ष संस्था की व्यवस्था की गई। विधायिकाओं के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा किया जाता है, और केंद्र और राज्यों की सरकारें इन प्रतिनिधि सभाओं के प्रति उत्तरदायी होते हैं। राज्याध्यक्ष का पद भी निर्वाचन व्यवस्था पर ही आधारित है। इस तरह सांविधानिक प्रावधानों द्वारा लोकतंत्रीय गणतंत्र के आदर्शों की पूर्ति होती है।

न्याय, स्वतंत्रता, समानता, और बंधुत्व — ये आदर्श भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लक्ष्य निर्धारित करते हैं। संविधान सभा में इन विषयों पर विस्तार से वादविवाद हुआ। न्याय के विभिन्न पक्षों पर विचार हुआ-सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक। कल्याणकारी राज्य के आदर्शों की प्राप्ति और वर्ण, समुदाय, जाति और धर्म के आधार पर भेदभाव का अंत आदि आदर्शों पर विशेष बल दिया गया। राजनीतिक न्याय का प्रतिपादन स्वतंत्रता के विभिन्न पक्षों के आधार पर किया

गया। समानता की परिभाषा डा. अंबेडकर द्वारा इस प्रकार दी गई, "सभी भारतीयों में सामूहिक बन्धुत्व की भावना।" डा. अंबेडकर ने बंधुत्व शब्द को प्रस्तावना में सम्मिलित करने का प्रस्ताव किया। उन्होंने कहा कि, "बंधुत्व के बगैर, समानता और स्वतंत्रता अर्थहीन हैं।" स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व, इन तीनों आदर्शों का एकीकृत "इस त्रिमूर्ति का सम्मिश्रिण होगा, जिसमें एक का दूसरे से अलग होने का अर्थ है लोकतंत्र के लक्ष्य की पराजय।" यह आदर्श संविधान के तीसरे और चौथे भाग में निहित हैं, जहाँ मूल अधिकार और राज्य के निर्देशक सिद्धांतों का प्रावधान है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों और अन्य कमज़ोर वर्गों के हितों की रक्षा के लिए विशेष प्रावधान है। राज्य के निर्देशक सिद्धांत सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के प्रश्नों पर ध्यान देते है। विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास और आराधना की स्वतंत्रता की गारंटी मूल अधिकारों द्वारा दी गई है। पद और अवसर की समानता का भी प्रावधान है। अस्पृश्यता और सामाजिक भेदभावों और असमानता की द्योतक पदवियों का अंत बंधुत्व के आदर्शों की ओर इशारा करता है।

प्रस्तावना में व्यक्ति की प्रतिष्ठा और राष्ट्र की एकता और अखंडता की चर्चा एक साथ की गई है। इससे यह पता चलता है कि व्यक्ति को भारतीय लोकतंत्र की मूल इकाई के रूप में कितना महत्व दिया गया है। मूल अधिकार के अनुच्छेद 19 में विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रताओं की गारंटी दी गई है। लेकिन साथ ही इस अनुच्छेद की धारा (2) और (6) में इन स्वतंत्रताओं पर कुछ "तर्क संगत" नियंत्रणों की व्यवस्था है। ये नियंत्रण देश की संप्रभुता, अखंडता और व्यवस्था के बारे में हैं। सरकार द्वारा आरोपित "नियंत्रण" "तर्कसंगत" है या नहीं, इसका निर्णय न्यायालय द्वारा किया जाएगा। 42वें संशोधन द्वारा प्रस्तावना में राष्ट्र की "अखंडता" शब्द जोड़ा गया। भारतीय लोकतंत्र समय-समय पर असहमति (dissension) की समस्याओं का सामना करना पड़ा है और इसीलिए देश की अखंडता पर ज़ोर देना आवश्यक हो गया।

प्रस्तावना के अंत में संविधान को अंगीकार करने की निश्चित तिथि दी गई। यहाँ एक बार फिर जनता की संप्रभुता के सिद्धांत पर बल दिया गया है, जिसने संविधान अंगीकृत किया। जनता की ओर से यह घोषणा की गई है कि वह "संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" इससे वैधता के सिद्धांत को एक ठोस आधार मिला है। इस तरह यह स्वनिर्मित और स्वआरोपित संविधान है।

यह तर्क अक्सर सुनने में आता है कि प्रस्तावना संविधान का हिस्सा नहीं है। यह कुछ सिध्दांतों का अनुसरण करने का संकल्प का सामान्य वक्तव्य मात्र है। संविधान सभा में महावीर त्यागी ने यह विचार व्यक्त किया था। इस विचार की पुनरुक्ति भारत के उच्चतम न्यायालय ने 1960 ई. में बेरूबारी केस के प्रसंग में की। न्यायालय का निर्णय 1973 ई. के केशवानंद भारती केस में भिन्न था। इसमें यह कहा गया कि प्रस्तावना इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें संविधान के "मूल ढांचे" की रूपरेखा दी गई है। संविधान का संशोधन उन प्रावधानों को परिवर्तित नहीं कर सकता जिसे "मूल ढांचा" कहा जा सके।

क्या प्रस्तावना भारतीय संविधान का हिस्सा है? [illegible] पर [illegible] से विचार विमर्श कीजिए।

अभ्यास

1. भारतीय संविधान की प्रस्तावना में दिए गए मार्गदर्शक सिद्धांत कौन से है? संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:
   (अ) संविधान में प्रस्तावना की आवश्यकता
   (ब) 1947 का लक्ष्य प्रस्ताव

अध्याय 13

भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताएं

भारतीय संविधान का स्वरूप कई तत्वों द्वारा निर्धारित हुआ है। इनमें कुछ महत्वपूर्ण इस प्रकार हैं-भारतीय समाज का स्वरूप, स्वतंत्रता आंदोलन का लक्ष्य और आदर्श, संविधान सभा का स्वरूप, और संविधान निर्माण के समय की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति। भारतीय समाज में विभिन्न धर्मों और समूहों के लोग शामिल हैं और बहुत से वर्ण और जन-जाति समूह हैं। आर्थिक असमानता भी है। इन्हीं तत्वों को ध्यान में रख कर संविधान में धर्म निरपेक्षता, समाजवाद, समानता, और समाज के कमज़ोर वर्गों के संरक्षण, जैसे सिद्धांतों पर बल दिया गया है। भारतीय उप महाद्वीप में ब्रिटेन द्वारा शासित विभिन्न प्रकार के प्रांत थे, और साथ ही देशी रियासतें भी थीं। संविधान निर्माताओं का ध्यान सबसे पहले देश के एकीकरण की ओर गया।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान इन विभिन्नताओं में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया। कुछ आदर्शों का विकास हुआ, जिनका मुख्य लक्ष्य था सामाजिक-आर्थिक सुधार। ऐसे कई आदर्श मूल अधिकार और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत में सम्मिलित किए गए। कुछ सांविधानिक सुधार और संस्थाएं विशेषतः 1919 ई. के बाद राजनीतिक परंपरा का ऐसा हिस्सा बन चुकी थी कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। संविधानावाद ऐसा ही एक सिद्धांत था। संसदीय व्यवस्था और संघीय ढांचा इन प्रभावों के अन्य उदाहरण हैं।

स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माण का कार्य जिस संविधान सभा के जिम्मे था, उसका गठन कुछ विशेष परिस्थितियों में हुआ था, और उसके सदस्य विभिन्न वर्गों के लोग थे। उसमें कुछ समुदायों और समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि थे, जैसे "सामान्य वर्ग," मुस्लिम, और पूर्वी पंजाब के सिक्ख। कांग्रेस पार्टी का ज़बर्दस्त बहुमत तो था, लेकिन दूसरे दलों के प्रतिनिधि भी थे जैसे मुस्लिम लीग, युनियनिस्ट, युनियनिस्ट मुस्लिम, युनियनिस्ट अनुसूचित जाति, कृषक प्रजा, अनुसूचित जाति फेडरेशन, सिक्ख गैर कांग्रेसी, साम्यवादी, और कुछ निर्दलीय। फिर प्रांतों और देशी रियासतों का भी प्रतिनिधित्व था। इस विविधता में संविधान सभा को सामंजस्य स्थापित करना था। प्रतिनिधियों के अपने-अपने हितों के साथ ही आदर्श भावना के प्रति सजग होने से ही यह संभव हो सका। कुछ प्रतिष्ठित नेताओं की उपस्थिति से आदर्शों पर सभा का ध्यान बना रहा। स्वतंत्रता आंदोलन के बड़े नेता, सर्वमान्य कानूनी और संविधान के विशेषज्ञ, आदर्शों के प्रति वचनबद्ध लोग, और उत्कृष्ट प्रशासनिक अनुभव वाले, इसके सदस्य थे। संविधान सभा की प्रारूप समिति के 17 सदस्यों में से कुछ नाम यह हैं-डा. बी.आर. अंबेडकर, के.एम. मुंशी, अलादि कृष्ण स्वामी अय्यर, ए. गोपाल स्वामी आयंगर, टी.टी. कृष्णमाचारी, बल्लभ भाई पटेल, जे.बी. कृपलानी, जवाहर लाल नेहरू, और वी. पट्टाभि सीतारम्मय्या। इस विशिष्ट मंडल के सदस्यों के ज्ञान, विशेषता और अनुभव से संविधान समृद्ध हुआ। संविधान के प्रावधानों में उस समय के अन्य देशों के संविधानों का प्रचुर ज्ञान परिलक्षित होता है।

स्वतंत्रता आंदोलन के समय ही सांप्रदायिकता एक विराट समस्या बन गई थी। सांविधानिक सुधार के हर मोड़ पर यह एक मुख्य समस्या के रूप में उभर आती। देश का विभाजन

और उसके साथ हुई सांप्रदायिक हिंसा, राजनीतिक प्रक्रिया पर एक स्थाई धब्बा बन गई। इससे संविधान निर्माताओं को विश्वास हो गया कि विभिन्नताओं को संभालना भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए आसान नहीं होगा। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि संघीय व्यवस्था का, जिसमें विभिन्नताएँ परिलक्षित होती है, एक शक्तिशाली केंद्र की ओर झुकाव है। इन विभिन्न प्रभावों के कारण संविधान की कुछ विशेषताएं देखने में आती हैं।

संविधान की मुख्य विशेषताओं की चर्चा में कुछ समस्याएं सामने आती हैं। संविधान में इनकी घोषणा नहीं की गई है। इनकी व्युत्पत्ति का आधार संविधान के प्रावधान और संस्थागत ढांचा है। इनमें कौन से ऐसे हैं जिन्हें मूल मुख्य विशेषताएं माना जाए? इस प्रश्न पर मतभेद हो सकते हैं। लेकिन, कुछ विशेषताओं के बारे में आम सहमति है कि उन्हें मुख्य विशेषताएं कहा जा सकता है।

अनेक स्रोत

संविधान निर्माताओं में एक सर्वोत्तम दस्तावेज तैयार करने की प्रेरणा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने विभिन्न देशों के संविधानों के प्रावाधानों और संस्थाओं को पूर्णतया ध्यान में रखा। संविधान सभा में डा. बी. आर. अंबेडकर और बी. एस. राव जैसे संविधान विशेषज्ञों की उपस्थिति इसके लिए सर्वथा अनुकूल थी।

गर्वनमेंट आफ इण्डिया एक्ट 1935 ई. ही भारतीय संविधान का सबसे बड़ा स्रोत था, क्योंकि करीब दो तिहाई प्रावधान दोनों में समान हैं। हमने पहले देखा है कि ऐसे बहुत से प्रावधानों का विकास पहले के अधिनियमों के क्रम में हुआ। संविधान ने ग्रेट ब्रिटेन से जिन संस्थाओं को उध्दृत किया वे थे, संसदीय सरकार व्यवस्था, विधि निर्माण की प्रक्रिया, विधायिका के अध्यक्ष का पद और एकल नागरिकता। संघीय व्यवस्था अमरीकी संस्थाओं से ग्रहण किया गया सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है। अन्य कुछ प्रावधान भी अमेरिका से लिए गए हैं, जैसे संविधान की सर्वोच्चता, स्वतंत्र न्यायपालिका, न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review), निर्वाचित राज्याध्यक्ष, राष्ट्रपति पर महाभियोग की प्रक्रिया, संविधानिक संशोधन की प्रक्रिया में राज्यों को विधायिकाओं द्वारा अनुमोदन। संविधान के तीसरे भाग में वर्णित मूल अधिकार अमेरीका के संविधान के बिल ऑफ राइट्स के समान हैं। चौथे भाग के राज्य निर्देशक सिद्धांतों के लिए संविधान सभा ने आयरलैंड के संविधान पर निर्भर किया। आयरलैंड के संविधान की झलक हमें दूसरे प्रावधानें में भी मिलती है, जैसे राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया, और साहित्य, कला, विज्ञान, समाज सेवा आदि में योगदान के लिए राज्य सभा में सदस्यों का मनोनयन। भारतीय संघ की "राज्यों के एक संघ" के रूप में परिभाषा, और केंद्र में निहित अवशिष्ट शक्तियां कनाडा के संविधान के समान हैं। संविधान के अनुच्छेद 245-255 के अंतर्गत सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची का प्रेरणा स्रोत आस्ट्रेलिया की संघीय व्यवस्था है। अनुच्छेद 21 में वर्णित "विधि द्वारा निर्धारित प्रक्रिया" जापान के संविधान के प्रावधान के समान है।

अन्य देशों के संविधानों से इन समानताओं के कारण संविधान सभा के विचार के समय और उसके बाद भारतीय संविधान की आलोचना की गई। संविधान को "उधार लिया हुआ", "जोड़-जाड़ का काम" और "कट-जोड़ का काम", "पश्चिम की दासवत् नकल" और लोगों की प्रतिभा के उपयुक्त नहीं– इन संज्ञाओं द्वारा आलोचना की गई। इन आलोचनाओं के बावजूद, यह देखने में आता है कि संविधान निर्माताओं ने जब भी किसी अन्य देश के प्रावधान को अपनाया, तो उसमें आवश्यक संशोधन अवश्य किया। विभिन्न प्रावधानों के समिश्रण ने भारतीय संविधान को एक अनन्य स्वरूप प्रदान किया। ये संस्थाएं संविधान सभा में विकसित आदर्शों और बचनबद्धताओं के सर्वथा अनुकूल हैं।

एक बृहद् दस्तावेज

भारतीय संविधान के 22 भागों, 395 अनुच्छेदों और 8 अनुसूचियों के पारित करने में संविधान सभा को करीब तीन वर्ष लगे। संविधान कई कारणों से लंबा हो गया। संविधान सभा के सदस्यों का सामाजिक परिवर्तन का एक भविष्य का स्वप्न था, जिसे वे संपूर्ण रूप से कानूनी दस्तावेज में परिलक्षित करना चाहते थे। राज्य के निर्देशक सिद्धांत ऐसे ही एक दर्शन का उदाहरण हैं। दूसरे देशों के विचार और संस्थाएं जो आकर्षक लगीं, उनका भी समावेष करना था। दो ऐसी संस्थाओं का ढांचा जिनका समन्वय करना पड़ा, वे थे ब्रिटेन और अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्थाएं। संसदीय सरकार का अध्यक्षीय व्यवस्था के साथ समन्वय करना पड़ा। फिर संघीय व्यवस्था और एकात्मक सिद्धांत का समन्वय भी आवश्यक था। इकाइयों

की विभिन्नता से राजनीतिक क्षेत्रीय-विभिन्नता को बल मिला। संविधान निर्माताओं ने कोई भी ऐसी कमी नहीं छोड़नी चाही जो बाद में समस्या बन जाए। इन जटिल परिस्थितियों को सुलझाने की दृष्टि से उन्होंने एक विस्तृत दस्तावेज बनाना अच्छा समझा। संविधान के वृहद आकार के कारण ही प्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ, सर आइवर जेनिंग्स, ने भारतीय संविधान को एक कठोर संविधान बताया है। लेकिन इसमें अभी तक 60 से अधिक संशोधन हो चुके हैं जिससे यह पता चलता है कि भारतीय संविधान अमेरिका, आस्ट्रेलिया और स्विट्जरलैंड के संविधानों की तरह कठोर नहीं। साथ ही यह ब्रिटेन की व्यवस्था की तरह लचीला भी नहीं। भारतीय संविधान में कठोर और लचीले दोनों विशेषताओं का समिश्रण है।

संविधान में संशोधन की प्रक्रिया

संविधान एक जीवंत दस्तावेज है, और उसे समाज की बदलती हुई सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल चलना पड़ता है। संशोधन की प्रक्रिया से इस अनुकलन में सहायता मिलती है। एक लिखित विस्तृत संविधान, संघीय व्यवस्था और मूल अधिकारों का प्रावधान-ये भारतीय संविधान को एक कठोर संविधान के लक्षण प्रदान करते हैं। संविधान सभा में इसके कट्टर समर्थक भी थे। कुछ अन्य सदस्यों ने संविधान के लचीलापन के पक्ष में अपना मत रखा। उनके विचार में परिवर्तनशील भारतीय समाज में सामाजिक-आर्थिक प्रगति के लिए बड़े पैमाने पर कार्यक्रमों की आवश्यकता थी। इसलिए संविधान को उनके सतत् अनुकूल होने के लिए लचीला होना चाहिए। संविधान ने मध्यमार्ग अपनाया और संशोधन की दृष्टि से संविधान के अनुच्छेदों को तीन हिस्सों में बांटा और उनके लिए अलग-अलग संशोधन प्रक्रिया का प्रावधान किया।

संविधान के लगभग 36 अनुच्छेद ऐसे हैं जिनका संशोधन संसद में उपस्थिति और मत देने वाले सदस्यों के सामान्य बहुमत से पारित होता है और उसके बाद राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। जिन प्रावधानों का संशोधन इस प्रकार होता है वे हैं-राज्यों के नाम और उनकी सीमाओं में फेर बदल, राज्यों में विधान परिषद का निर्माण या समापन, संसदीय विशेषाधिकार का संहिताकरण, संसद में कोरम का निर्धारण, राष्ट्रपति, राज्यपाल, उच्च और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन और भत्ते का निर्धारण। संशोधन की यह प्रक्रिया बहुत ही आसान है।

दूसरे वर्ग के सांविधानिक अनुच्छेदों में संशोधन के लिए विशेष बहुमत की आवश्यकता होती है। यह संशोधन संसद के प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों के बहुमत से पारित होता है। यह बहुमत सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से कम नहीं होना चाहिए। दूसरे विधेयकों के समान इसे भी राष्ट्रपति के अनुमोदन के लिए भेजा जाता है। संविधान के अधिकतर अनुच्छेदों पर यह प्रक्रिया लागू होती है।

संशोधन की तीसरी विधि को पारित करना अधिक कठिन है। इसके लिए ऊपर दिए गए विशेष बहुमत के अतिरिक्त आधे से अधिक राज्यों की विधायिकाओं द्वारा अनुमोदन आवश्यक है। इसके बाद ही राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जा सकता है। जो प्रावधान इस प्रक्रिया से संशोधित हो सकते हैं वे हैं: भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया, केंद्र और राज्यों के कार्यकारी अधिकार, अनुसूचित जाति और जनजाति संबंधी सांविधानिक प्रावधान, सातवीं अनुसूची में संघ सूची और राज्य सूची में परिवर्तन, संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व, अनुच्छेद 368 जिसमें संशोधन प्रक्रिया का प्रावधान है।

संविधान के लागू होने के चालीस वर्षों में 59 संशोधन पारित हुए हैं। इन वर्षों में संशोधन लाने की गति में तीव्रता आई है। 1950-1960 ई. के पहले दशक में सिर्फ 9 संशोधन ही हुए, लेकिन 1960-1970 ई. में इनकी संख्या 15 हो गई। देश में राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के साथ ही, अधिक संशोधनों की आवश्यकता हुई। ये संशोधन भारतीय समाज के महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक विषयों के संबंध में हैं, जैसे संपत्ति का अधिकार, विशेषतः उद्योगों से संबंधित, भूमि सुधार, पिछड़े वर्गों के लिए गारंटी और केंद्र-राज्य संबंध। न्यायपालिका द्वारा सांविधानिक प्रावधानों की व्याख्या के कारण भी कुछ संशोधन आवश्यक हो गए।

> उनसठवें संविधान संशोधन के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त कीजिए। यह संशोधन विवादास्पद विषय बन गया है। इसके बारे में अपने अध्यापक से जानकारी प्राप्त कीजिए।

न्यायिक व्याख्या के अनुसार संसद को संविधान में संशोधन करने का असीमित अधिकार नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने 1973 ई., में केशवानंद भारती केस के निर्णय में कहा कि संसदीय संशोधन द्वारा संविधान के "मूल ढांचा" में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। 1976 ई. के बयालिसवें संशोधन में कहा गया कि संविधान में संशोधन लाने का संसद का अधिकार सीमित नहीं है। संविधान का कोई भी अनुच्छेद ऐसा नहीं है जिसमें संशोधन न किया जा सके। यह भी कहा गया कि संसद के किसी भी संशोधन को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। सर्वोच्च न्यायालय ने 1980 ई. में मिनर्वा मिल केस के निर्णय में स्थिति को उलट दिया और एक बार फिर "मूल ढांचा" के तर्क का प्रतिपादन किया।

संघीय व्यवस्था

भारतीय संविधान में एक संघीय व्यवस्था के सभी लक्षण हैं- लिखित सविधान, संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन, और स्वतंत्र न्यायपालिका। संघ और राज्यों के बीच विधायी और प्रशासनिक शक्तियों के विभाजन का प्रावधान विस्तार से किया गया है। संविधान के संरक्षण के लिए न्यायपालिका के अधिकार स्पष्ट रूप से दिये गये हैं। लेकिन संविधान निर्माताओं ने भारत के लिए कहीं भी संघात्मक (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया। भारत को, अनुच्छेद 1 में, राज्यों का संघ (Union of States) कहा गया है। राज्यों का संघ पर जो बल दिया गया है, वह दूसरे प्रावधानों से भी परिलक्षित होता है-केंद्र की पहल पर नए राज्यों का निर्माण और उनकी सीमाओं में फेर-बदल, केंद्र और राज्यों के लिए एक ही संविधान, राज्य के कार्यकारी के मुख्य राज्यपाल की केंद्र के द्वारा नियुक्ति, और भारत के राष्ट्रपति के आपत्कालीन अधिकार। कुछ विद्वानों का मत है कि भारतीय संविधान में संघीय व्यवस्था से अधिक एकात्मक व्यवस्था के लक्षण पाए जाते हैं। प्रसिद्ध विद्वान, के.सी. व्हीयर का मत है कि भारतीय संविधान अर्धसंघीय है। संविधान निर्माता एक सशक्त केंद्र की आवश्यकता के लिए जिन बातों से प्रभावित हुए वे थे, भारतीय समाज की विविधता, विभिन्न क्षेत्रों की स्थिति और देश के विभाजन के समय दंगों के कारण कानून और व्यवस्था की समस्या।

संसदीय सरकार

1919 ई. और 1935 ई. के अधिनियमों के बाद ही सरकार का मूल स्वरूप ब्रिटेन की तरह की संसदीय व्यवस्था के रूप में उभर आया। इस व्यवस्था में वास्तविक सत्ता प्रधान मंत्री के हाथ में होती है और वही सरकार का मुखिया होता है। प्रधान मंत्री और मंत्रिपरिषद् के सदस्य संसद में बहुमत दल के सदस्य होते हैं। कार्यकारी अधिकार मंत्री परिषद् और प्रधानमंत्री के पास होते हैं। राष्ट्रपति मात्र सांविधानिक राज्याध्यक्ष है। राज्यों में भी मंत्री परिषद् और मुख्यमंत्री के साथ सत्ता की ऐसी ही व्यवस्था है।

मूल अधिकार और कर्त्तव्य

हमने ऊपर देखा है कि भारतीय संविधान की प्रस्तावना में "व्यक्ति की प्रतिष्ठा" पर बल दिया गया है। संविधान के भाग III में नागरिकों के अधिकार दिए गए हैं। ये अधिकार हैं, समानता के अधिकार, स्वतंत्रता के अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार और सांविधानिक उपचारों का अधिकार। 1976 ई. के बयालिसवें संशोधन द्वारा संपत्ति के अधिकार में परिवर्तन लाया गया। यह अब मूल अधिकार नहीं, एक 'कानूनी अधिकार' है। धारा 300-ए के अनुसार किसी भी व्यक्ति को, कानून के अधिकार के अलावा, संपत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा।

मूल अधिकारों को सांविधानिक गारंटी प्राप्त है और अगर उनका उल्लंघन होता है तो नागरिक उच्चतम न्यायालय में अपील कर सकते हैं। संविधान का संरक्षण न्यायालय की जिम्मेदारी है। इन अधिकारों को सिर्फ संवैधानिक संशोधन से ही वापस लिया जा सकता है। लेकिन ये अधिकार असीमित नहीं हैं। सार्वजनिक व्यवस्था और नैतिकता की दृष्टि से इसकी कुछ सीमाएँ निर्धारित की गई हैं।

1976 ई. के बयालिसवें संशोधन ने संविधान में भाग IV-अ संलग्न किया; जिसमें नागरिकों के 10 कर्त्तव्यों की सूची दी गई है। ये कर्तव्य हैं, संविधान का सम्मान और पालन; उन आदर्शों का पालन जिनसे स्वतंत्रता आंदोलन में लोगों को प्रेरणा मिली; भारत की संप्रभुता और एकता का संरक्षण; देश की सुरक्षा के लिए प्रस्तुत रहना; समुदायों में मैत्री और बन्धुत्व बनाए रखना, देश की सामाजिक संस्कृति की रक्षा; प्राकृतिक परिवेश की सुरक्षा; वैज्ञानिक मिजाज (Scientific Temper)

और मानविकी का विकास; सामाजिक संपत्ति की सुरक्षा और *हिंसा का त्याग; और सभी व्यक्तिगत और सामूहिक कार्य में* श्रेष्ठता प्राप्त करना। अधिकारों की तरह, इन कर्तव्यों के लिए न्यायालय के अनुसमर्थन (sanction) की गारंटी नहीं है। ये नागरिकों के पथ निर्देशक आदर्श हैं और इनके द्वारा यह याद दिलाया गया है कि नागरिकों से क्या मूल अपेक्षाएं हैं।

राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत

संविधान के भाग IV में नागरिकों के लिए कुछ गारंटी दी गई है। लेकिन ये 'न्याय योग्य' (Justiciable) नहीं है। इन सिद्धांतो को लागू करने के लिए नागरिक न्यायालय की सहायता नहीं ले सकते। सर्वप्रथम ये सिद्धांत तेज बहादुर सप्रू कमेटी के 1944-45 के संवैधानिक प्रस्तावों में प्रतिपादित किए गए। संवैधानिक सलाहकार बी.एन.राव, ने ऐसे अधिकार जो न्याय *योग्य है* और वे जो *न्याय योग्य* नहीं हैं, ऐसे अधिकारों के बीच भेद करते हुए कहा, "कुछ अधिकार ऐसे होते है जिनके लिए राज्य के प्रत्यक्ष कार्यवाही की आवश्यकता होती है, और जिनकी गारंटी उसी हद तक दी जा सकती है जो व्यावहारिक हो। दूसरे अधिकार सिर्फ इसलिए हैं कि राज्य कोई ऐसा काम न करे जो इनके सर्वथा विरुद्ध हो।" संविधान सभा द्वारा नियुक्त 'मूल अधिकार की उपसमिति' ने अधिकारों की सूची तैयार की, जिसमें नीति निर्देशक सिद्धांत भी शामिल थे, जो न्याय योग्य नहीं हैं।

नीति निर्देशक सिद्धांत कल्याणकारी राज्य के आदर्शों की उपलब्धि के लिए विधायिका और कार्यपालिका का नीति निर्माण में पथ प्रदर्शन करते हैं। इनमें आर्थिक और सामाजिक न्याय तथा विश्व-शांति के सिद्धांत शामिल हैं।। इन्हीं विस्तृत सिद्धांतों के अनुसार नीति निर्देश दिए गए हैं। संविधान के इसी भाग में ग्राम पंचायतों का निर्माण और प्रोत्साहन, प्रबंध में मज़दूरों की सहभागिता, और परिवेश और वन्य जीवन का संरक्षण, जैसे सिद्धांत भी दिए गए है।

मूल अधिकारों और नीति निर्देशक सिद्धांतों के बीच प्राथमिकता के विषय पर कुछ वाद-विवाद रहा है। इनमें कौन अधिक महत्वपूर्ण है? अगर इन दोनों प्रावधानों में विरोध हो, तो किसे प्राथमिकता दी जाएगी? पहला राजनीतिक अधिकारों पर बल देता है, और दूसरे में सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं।

इन दोनों में इस दृष्टि से भी अंतर है कि एक न्याययोग्य है, और दूसरा न्याययोग्य नहीं है। लेकिन नीति निर्देशक तत्व का नैतिक आधार हैं और वे राष्ट्रीय विवेक के प्रतीक हैं, जिन्हें भारतीय राज्य को सदैव ध्यान में रखना पड़ेगा। संविधान के अनुसार नीति निर्देशक सिद्धांत "*देश के शासन के लिए मूलभूत सिद्धांत हैं, जिन्हें राज्य को कोई भी कानून बनाते समय ध्यान में रखना आवश्यक होगा।*" *1951 ई. के चंपकम दोराइराजन* केस के समय से ही उच्चतम न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न रहा है कि मूल अधिकार और नीति निर्देश सिद्धांतों में किस का अधिक महत्व है। उच्चतम न्यायालय ने इस प्रश्न की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। पहली व्याख्या यह थी कि मूल अधिकार अधिक महत्वपूर्ण हैं, लेकिन नीतिनिर्देशक सिद्धांतों की जिम्मेदारी निभाने के लिए मूल अधिकारों में संशोधन किया जा सकते है। 1967 ई. के गोलकनाथ केस से एक मोड़ *आया जब उच्चतम न्यायालय* ने यह फैसला दिया कि मूल अधिकारों में संशोधन नहीं किए जा सकते। *1972* ई. के चौबीसवें और पचीसवें शोधन ने इस व्याख्या की पुष्टि की कि मूल अधिकारों में संशोधन संभव हैं। 1976 ई. के बयालिसवें संशोधन में नीति-निर्देशक सिद्धांतों को कुछ मूल अधिकारों से अधिक महत्वपूर्ण माना गया। 1980 ई. के मिनर्वा मिल्स केस में सर्वोच्च न्यायालय ने एक बार फिर मूल अधिकारों के महत्व को स्थापित कर दिया।

विभिन्न व्याख्याओं और वाद विवादों से मूल अधिकार और नीति निर्देशक सिद्धांतों के महत्व का ही पता चलता है। इन दोनों भागों के कार्यान्वयन में जो समस्या सामने आई, उनके बारे में संविधान निर्माता पूर्ण अभिज्ञ थे। न्यायमूर्ति जे. चन्द्रचूड़ के शब्दों में, 'ये दोनों (सिद्धांत) अलग-अलग नहीं एक साथ मिलकर संविधान के सार रूप में है, अलग-अलग नहीं, साथ-साथ मिलकर ही ये सच्चे विवेक के प्रतीक है।'

आपतकालीन प्रावधान

संविधान के भाग XVIII के नौ अनुच्छेद राष्ट्रपति को आपतकालीन अधिकार प्रदान करते हैं। तीन स्थितियों में राष्ट्रपति आपतकालीन स्थिति की घोषणा कर सकता है — युद्ध, बाहृय आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह, राज्यों में संविधान की विफलता, और आर्थिक संकट। उनसठवें संशोधन के द्वारा 'आंतरिक अशांति' को भी आपातकालीन स्थिति की घोषणा

का आधार माना गया था।

तीन प्रकार की आपतकालीन स्थितियों का राज्यों के अधिकार और मूल अधिकारों पर सीधा प्रभाव पड़ता है। राज्य स्तर की संस्थाओं के विधायी और अन्य अधिकारों से संबंधित बहुत से प्रावधान निलंबित हो जाते हैं। कुछ मूल अधिकार, विशेषतः स्वतंत्रता के अधिकार आपतकालीन स्थिति की अवधि के लिए निलंबित कर दिए जाते हैं। इस तरह आपतकालीन समय में भारतीय सरकार का केंन्द्रीकरण हो जाता है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता और न्यायिक पुनरावलोकन

हमने अध्याय 8 में पढ़ा है कि स्वतंत्र न्यायपालिका संघीय व्यवस्था का एक मुख्य लक्षण है। इस व्यवस्था में न्यायपालिका का एक महत्वपूर्ण काम यह है कि वह संविधान के संरक्षक के रूप में काम करे और विवाद की स्थिति में प्रमाणिक व्याख्या दे। इस तरह, विधायिका का कानून बनाने के अधिकार का न्यायपालिका संविधान की दृष्टि से पुनरावलोकन कर सकती है। न्यायपालिका की दृष्टि में अगर विधायिका द्वारा पारित कोई कानून संविधान के प्रावधानों के विरुद्ध है तो वह उसे निरस्त कर सकती है। इसको न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार कहते हैं। उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार जिन स्थितियों में प्राप्त हैं वे हैं, (अ) केंन्द्र और राज्यों के बीच संघर्ष, (ब) विधायिका द्वारा पारित ऐसे कानून जो संविधान के अनुकूल नहीं हैं, (स) मूल अधिकारों का संरक्षण, और (द) के उन प्रावधानों की व्याख्या और स्पष्टीकरण जिनके बारे में संशय और मतभेद हो। ऐसे सभी प्रकार के केस भारत के उच्चतम न्यायालय के समक्ष आ चुके हैं।

भारतीय न्यायपालिका के अधिकार अमेरिका की न्यायपालिका के 'कानून की यथोचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) के सिद्धांत की तुलना में सीमित हैं। इस सिद्धांत के अनुसार न्यायालय प्राकृतिक विधि (Natural Law)जैसे व्यापक सिद्धातों के आधार पर कानूनों की समीक्षा करता है। भारतीय संविधान 'कानून द्वारा स्थापित कार्य विधि,' (Procedure established by law) के सिद्धांत को मानता है, जिसमें विधायिका कानून के क्षेत्र को प्रतिस्थापित करती है। इससे कानून के स्वरूप को निश्चित करने का अधिकार विधायिका के पास होता है। इससे कानून के स्वरूप को निश्चित करने का अधिकार विधायिका के पास होता है।

जवाहरलाल नेहरू ने यह स्पष्ट मत व्यक्त किया कि "न्यायपालिका को विधायिका के तीसरे सदन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।". पहले संशोधन द्वारा संविधान में तीसरी सूची को जोड़ा गया, जिसमें यह प्रावधान था कि जो भी कानून इस सूची में सम्मिलित होंगे उन्हें न्यायालय के सामने नहीं लाया जा सकता। राज्यों की नदियों के पानी के बँटवारे को भी न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखा गया है। भारतीय संविधान में संस्थाओं के अधिकार और कार्य की चर्चा विस्तार से की गई है। इससे न्यायालय के अधिकार स्वत: कुछ सीमित हो जाते हैं। इसके अलावा, दूसरी संघीय व्यवस्थाओं की तुलना में, भारतीय संविधान में संशोधन अधिक आसानी से किया जा सकता है। विधायिका बदलती हुई स्थितियों को दृष्टि से अधिक आसानी से परिवर्तन ला सकती है। इस तरह भारतीय संविधान ने संघीय व्यवस्था और संसदीय सरकार की आवश्यकतों के बीच सामंजस्य स्थापित किया है, और विधायिका को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

संविधान की उन अन्य विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कीजिए जिनका वर्णन अन्य पुस्तकों में किया जाता है।

अभ्यास

1. भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. संविधान के किन्ही दो स्त्रोतों का वर्णन कीजिए। भारतीय संविधान में जो प्रावधान इन स्त्रोतों से प्राप्त किये गये हैं उनका संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

3. भारतीय संविधान में संशोधन किस प्रकार किया जाता है?
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 (क) न्यायिक पुनरावलोकन
 (ख) राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों की न्याय-अयोग्यता

अध्याय 14

भारतीय संघ : सांविधानिक प्रावधान और कार्य

किसी भी देश के संविधान का निर्माण जिन परिस्थितियों में होता है, उनका संविधान पर स्पष्ट प्रभाव होता है। ऐतिहासिक विरासत, सामाजिक आर्थिक और भौगोलिक स्थिति, संविधान निर्माण संस्था का स्वरूप और समसामयिक परिस्थिति, इन सब का सामंजस्य उन आदर्शों के साथ करना पड़ता है जिनका समावेश संविधान निर्माता उस दस्तावेज में करना चाहते हैं। इन्हीं सब कारणों से संविधान निर्माण की प्रक्रिया जटिल हो जाती है। भारतीय संविधान में संघीय व्यवस्था का स्वरूप इसी प्रकार के दबावों से प्रभावित है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक इकाइयों की विभिन्नताओं के कारण ही भारत में संघीय व्यवस्था अपनाई गई। ब्रिटिश प्रांतों और देशी रियासतों को मिलाकर स्वतंत्र भारत का निर्माण हुआ। ये विभिन्न प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्थाएं थीं और इनकी कानूनी व्यवस्था भी भिन्न थीं। फिर देशी रियासतों में भी आपस में विभिन्नताएं थीं। इनमें विभिन्न भाषाएं बोली जाती थीं और ये सांस्कृतिक दृष्टि से भी अलग थीं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का संगठन संघीय आधार पर किया गया। संविधान सभा का गठन भी विभिन्न इकाइयों और समुदायों के प्रतिनिधियों द्वारा ही हुआ। स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं ने इन विभिन्नताओं को एकीकृत करने का प्रयास किया, लेकिन साथ ही वे विभिन्नताओं के प्रति भी सजग थे। समय-समय पर जो सांविधानिक सुधार लाए गए उनमें संघ का विचार परिलक्षित था। संविधान निर्माण से पहले ही, 1935 ई० के अधिनियम ने संघीय व्यवस्था की नींव रख दी थी। 1942 ई० का क्रिप्स मिशन, 1947 ई० से प्रतिपादित "लक्ष्य प्रस्ताव" इन सब में संघ के सिद्धांत को माना गया था। अंत: इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि भारतीय संविधान में संघीय व्यवस्था को अपनाया गया।

इसके साथ ही कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कारण थे जिससे एक सशक्त केंद्रीय सरकार की आवश्यकता अनुभव की गई। द्वितीय महायुद्ध के बाद जो भारतीय अर्थव्यवस्था ब्रिटेन ने पीछे छोड़ी, उसमें अनेक कमियाँ थी। अन्न की कमी अत्यंत चिंताजनक थी। सांप्रदायिक स्थिति पहले से ही समस्या थी, लेकिन जैसे-जैसे देश का विभाजन अनिवार्य होता गया, वैसे वैसे और भी तीव्र हो गई। विभाजन के समय जो सांप्रदायिक दंगे हुए उससे देश में कानून और व्यवस्था और देश की एकता की समस्या गंभीर हो गई। देशी रियासतों की स्थिति अनिश्चित बनी हुई थी। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 ने देशी रियासतों को यह छूट दे दी थी कि वे स्वयं ही इस बात का निर्णय लेंगी कि वे स्वतंत्र रहेंगी या फिर भारत या पाकिस्तान राज्य में सम्मिलित होंगी। आर्थिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता, देशी रियासतों की अनिश्चित स्थिति, और सांप्रदायिक स्थिति जिसकी परिणति 1947 ई० के दंगों में हुई, ये सभी ऐसे कारण थे जिनके फलस्वरूप संविधान निर्माताओं ने भारत में संघीय व्यवस्था के बनाए रखते हुए सशक्त केंद्रीय सरकार को आवश्यक माना।

इस तरह संविधान सभा एक ओर संघीय व्यवस्था और दूसरी ओर सशक्त केंद्रीय सरकार को आवश्यक मानती थी। इन दो विचारों में सामंजस्य स्थापित करने में संविधान निर्माताओं का झुकाव केंद्र की ओर अधिक था। भारतीय संघ के स्वरूप के बारे में कई विचार व्यक्त किए गए। कुछ लोग इसका

वर्णन एक ऐसे संघ के रूप में करते हैं, जिसका केंद्र की ओर निश्चित झुकाव है। कुछ अन्य लोगों का मानना है कि इसका स्वरूप संघात्मक से ज्यादा एकात्मक है। प्रसिद्ध विद्वान के० सी० व्हीयर इसे एक अर्धसंघीय व्यवस्था मानते हैं।

भारतीय संघीय व्यवस्था के मूल्यांकन में अकसर अमरीका जैसे पुराने संघों को ध्यान में रखा जाता है। संघीय व्यवस्था के सिद्धांत को सब से पहले प्रतिपादित करने वाले विद्वान,जैसे ए० वी० डाइसी ने अमरीका के अनुभव पर ही निर्भर किया। वहाँ की संघीय व्यवस्था को अकसर दूसरे संघों के मूल्यांकन के लिए आदर्श मान लिया जाता है। लेकिन संघ के निर्माण की प्रक्रिया विभिन्न देशों में भिन्न होती है। जो व्यवस्था अमेरिका के लिए उपयुक्त है वह, हो सकता है, दूसरे देश के लिए अच्छी न हो। स्विट्जरलैंड, आस्ट्रेलिया, कनाडा और सोवियत संघ, इन देशों में अपने-अपने प्रकार की संघीय व्यवस्थाएं हैं। इसके अलावा तीसरी दुनिया के देशों की संघीय व्यवस्थाओं की अपनी विशेषताएं हैं। अध्याय 8 में इनकी चर्चा की जा चुकी है। इसलिए संघीय व्यवस्था के किसी भी "आदर्श स्वरुप" की बात करना बहुत तर्कसंगत नहीं है। सभी संविधानों की अपनी-अपनी विशेषता होती है। संविधान निर्माताओं ने जिस संघीय व्यवस्था को भारत के लिए सबसे उपयोगी समझा, उन्होंने उसका प्रावधान संविधान में किया।

भारतीय संघ का स्वरूप

भारतीय संविधान सरकार के दो स्तरों को स्वीकार करता है — केंद्रीय सरकार और राज्य सरकार। समस्त भारत 25 राज्यों और 7 केंद्र शासित प्रदेशों में बांटा गया है। राज्यों के अपने अधिकार और कार्य संविधान से प्राप्त हैं और अपने क्षेत्र पर शासन के लिए राज्यों में सरकार स्थापित की जाती है। केंद्रीय सरकार का अधिकार क्षेत्र भारतीय भूभाग पर है। संविधान में विधायी, कार्यकारी, और वित्तीय अधिकारों का केंद्र और राज्य के बीच विभाजन विस्तार से दिया गया है। इस तरह अधिकार का विभाजन क्षेत्रीय और विषय मूलक दोनों है। संविधान इन अधिकारों का सर्वोच्च स्रोत है। संविधान के संरक्षण और उसकी व्याख्या का उत्तरदायित्व स्वतंत्र न्यायपालिका के ऊपर है। इस प्रकार भारतीय संविधान में एक संघीय सरकार के मूल लक्षण विद्यमान है।

विधायी अधिकार

संविधान के भाग XI के अध्याय 1 में विधायी अधिकारों का विभाजन किया गया है। सातवीं अनुसूची में विषयों की तीन सूचियाँ दी गई हैं — संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ सूची में 97, राज्य सूची में 66 और समवर्ती सूची में 47 विषय दिए गए हैं। सातवें (1956) और बयालिसवें (1976) संशोधनों द्वारा कुछ परिवर्तन किए गए जब तौल और परिमाण (Weights and measures), वन, जंगली जानवर और चिड़ियों का संरक्षण और शिक्षा, को राज्य सूची से हटा कर समवर्ती सूची में डाल दिया गया। विषयों के एक सूची से दूसरी सूची में परिवर्तन करने पर भी विषयों की संख्या और क्रम बद्धता कानूनी कारणों से वही की वही रहती है। संघ की सूची के विषयों पर केंद्रीय संसद कानून बना सकती है और राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार राज्य विधायिका को है। समवर्ती सूची के विषयों पर केन्द्र राज्य दोनों ही कानून बना सकते हैं। लेकिन दोनों द्वारा बनाए गए कानून में अगर किसी प्रकार का विरोध होगा तो केंद्र द्वारा बनाया कानून ही मान्य होगा। संघ सूची अधिक विस्तृत है, और उसमें राष्ट्रीय महत्व के विषय जैसे प्रतिरक्षा, पर-राष्ट्र विषय, मुद्रा, बैंक, तथा ऐसे विषय जिसमें एक से अधिक राज्यों का हित है, जैसे अंतर्राज्य वाणिज्य और व्यापार, अंतर्राज्यीय नदी और नदियों की घटियों का विकास और उनका नियमन, अंतर्राज्य स्थानांतरण, चुनाव, लेखा और लेखा परीक्षा, इत्यादि कुछ विषय हैं। राज्य सूची में ऐसे विषय हैं जिनका क्षेत्रीय महत्व है। इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण विषय हैं, — राज्य कर, निर्यात शुल्क, स्थानीय स्वायत्त शासन, स्वास्थ्य विभाग, कृषि, जंगलात, मत्स्य पालन उद्योग, पुलिस इत्यादि। केंद्रीय संसद इनमें से कुछ विषय अपने अधिकार में ले सकती है। समवर्ती सूची में सामान्य कानून और कानूनी कार्यविधि के विषय जैसे दण्ड विधि, दण्ड कार्यविधि, विवाह, तलाक, सम्पति कानून, संविदा और कुछ ऐसे विषय हैं जिनका संबंध समाज कल्याण से है जैसे मज़दूर संघ, सामाजिक सुरक्षा, व्यावसायिक और तकनीकी प्रशिक्षण, कानूनी और चिकित्सा संबंधी शिक्षा। आर्थिक और सामाजिक योजना भी इसी सूची में है। ये विषय ऐसे हैं जिनमें किसी वक्त तो केंद्रीय संसद को कानून बनाने के लिए पहल करनी पड़ेगी और कभी राज्य विधायका को। दोनों स्तरों की विधायिका का समवर्ती सूची के

विषयों के बारे में कानून बनाने का अधिकार होने से ऐसी स्थिति हो सकती है जब दोनों द्वारा पारित कानून विरोधी हों। ऐसी स्थिति में संसद के कानून को प्राथमिकता दी जाएगी। यद्यपि सूचियों में विषयों का विस्तृत वर्णन है, फिर भी कुछ ऐसे विषय हो सकते हैं जिनकी चर्चा तीनों सूचियों में नहीं है। धारा 248 ने संसद को अवशिष्ट अधिकार दिए हैं और उसके अंतर्गत ऐसे विषयों पर केंद्र कानून बना सकता है।

प्रशासनिक अधिकार

केंद्र और राज्यों के प्रशासनिक अधिकार विधायी अधिकारों के विभाजन के समानांतर हैं। संघ सूची के विषयों से संबंधित कार्यकारी अधिकार केंद्रीय सरकार के क्षेत्र में हैं। राज्य के विषयों के कार्यकारी अधिकार राज्य सरकार के पास हैं। सामान्य स्थिति में समवर्ती सूची के विषयों से संबंधित कार्यकारी अधिकार राज्य सरकार के पास होते हैं। लेकिन संसद केंद्र सरकार को समवर्ती विषय पर कानून बनाने के लिए राज्य सरकार को आदेश देने का अधिकार दे सकती है।

संविधान के भाग XIV में केंद्र और राज्य के अंदर लोकसेवा का प्रावधान है जिसके अनुसार दो सरकारी ढांचों का प्रारूप दिया गया है। इसमें से एक का संगठन और नियंत्रण केंद्रीय सरकार द्वारा होता है, और दूसरे का राज्य सरकार द्वारा होता है। प्रशासन की यह दोहरी व्यवस्था भारतीय संविधान के संघीय व्यवस्था के अनुकूल ही है, जिसमें केंद्र और राज्यों के अधिकार क्षेत्र निश्चित किए गए हैं। अखिल भारतीय सेवा राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों में समान रूप से काम करती हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा जैसी कुछ सेवाओं का संगठन सांविधानिक प्रावधानों के अंतर्गत हुआ है। धारा 312 के द्वारा राज्य सभा को यह अधिकार है कि दो तिहाई बहुमत से किसी नई अखिल भारतीय सेवा को स्थापित करे।

वित्तीय अधिकार

संविधान के भाग XI के 264 से 300 तक 37 अनुच्छेदों में केंद्र और राज्य सरकारों के बीच वित्तीय साधनों के विभाजन का ब्यौरा दिया गया है। संघ और राज्य सूची, जिनमें कानून बनाने के विषय दिए गए हैं, वित्तीय साधनों का भी प्रावधान करती है। संघ सूची में 12 और राज्य सूची में 19 विषय वित्तीय अधिकारों के बारे में है। राज्य सूची में दिए गए वित्तीय विषयों पर राज्य सरकार द्वारा कर लगाए जाते हैं, उन्हीं के द्वारा एकत्रित किए जाते हैं, और उनका उपयोग भी राज्य सरकार ही करती है। इस प्रकार के कुछ महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं, भूमि कर, शराब और अफीम, उत्पादक शुल्क, मुहरें, कृषि आय कर, भूमि और इमारत पर कर, बिजली के उपभोग और बिक्री पर कर, वाहन, मनोरंजन और जुआ कर। संघ सूची में भी कई प्रकार के राजस्व के स्रोत हैं। इनमें से कुछ तो सिर्फ केंद्र के पास रहते हैं, और कुछ अन्य ऐसे हैं जिनका बंटवारा केंद्र और राज्यों के बीच होता है, जैसे आय कर। कुछ और स्रोत ऐसे हैं जिनपर कर केंद्र द्वारा लगाए और वसूल किए जाते हैं, लेकिन समस्त वसूली को राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों में बांट दिया जाता है। कुछ ऐसे स्रोत हैं जिन पर कर लगाये तो केंद्र द्वारा जाते हैं लेकिन राज्य उनकी वसूली अपने पास रख लेते हैं। ऐसा कहा जाता है कि राज्य सूची के स्रोत "कठोर" हैं और उनमें वृद्धि की गुंजाइश नहीं है। लेकिन संघ सूची के स्रोत "लचीले" हैं जिन्हें बढ़ाया जा सकता है।

एक अन्य वित्तीय स्रोत जिसकी चर्चा आवश्यक है, वह है ऋण और अनुदान। केंद्र सरकार विकास कार्यक्रमों के लिए राज्यों को अनुदान दे सकती है। राज्यों के बजट में घाटा पूर्ति के लिए भी धनराशि दी जा सकती है। इसके अलावा राज्य सरकार केंद्र से ऋण भी ले सकती है। इस प्रकार से धनराशि आवंटन का केंद्र सरकार के पास विस्तृत अधिकार है।

केंद्र और राज्यों के बीच वित्तीय साधनों के बंटवारे के लिये वित्त आयोग एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। संविधान के अनुच्छेद 270, 273 और 275 के द्वारा वित्त आयोग का प्रावधान किया गया है। राष्ट्रपति हर पांच वर्षों में आयोग का गठन करता है। इस आयोग के मुख्य कार्य हैं, ऐसे आधारों की सिफारिश करना जिसके अनुसार केंद्र और राज्यों और राज्यों के बीच वित्तीय साधनों का बंटवारा किया जाय। वित्त आयोग द्वारा सुझाये गये फार्मूला के अनुसार ही राज्यों को अनुदान राशि दी जाती है। सुदृढ़ वित्तीय व्यवस्था के हित के अन्य विषय भी वित्त आयोग के पास भेजे जा सकते हैं। जून 1987 ई० में नौवें वित्त आयोग की नियुक्ति की गई थी।

इस प्रकार संविधान में केंद्र और राज्यों के विधायी, प्रशासनिक और वित्तीय अधिकारों का विभाजन विस्तृत रूप से दिया गया है। एक संघीय व्यवस्था के लिए अधिकारों का

सीमांकन आवश्यक भी है। लेकिन संस्थाओं के प्रावधान में केंद्रीय सरकार के अधिकारों पर अधिक बल दिया गया है। हमने अध्याय 6 और 8 में पढ़ा है कि आधुनिक राज्यों में बढ़ते हुए केंद्रीयकरण की सामान्य प्रवृत्ति है। जिन परिस्थितियों में संविधान सभा ने सशक्त केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता पर बल दिया, उसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

भारतीय संघ के एकात्मक लक्षण

संविधान भारत को राज्यों का संघ (Union of States) घोषित करता है। केंद्र सरकार को नए राज्य बनाने और राज्यों की सीमा में परिवर्तन करने का अधिकार है। संविधान के लागू होने के पांच वर्षों के अंदर 1956 ई० में भाषा के आधार पर राज्यों में व्यापक परिवर्तन किए गये। उसके बाद कई नये राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों की स्थापना की गई और कई स्थानों पर उनकी सीमाओं में परिवर्तन किया गया। मई 1987 ई० में गोआ को एक राज्य का दर्जा दिया गया जो इस तरह के परिवर्तन का एक उदाहरण है। इस तरह राज्यों की भौगोलिक सीमाएं केंद्र सरकार पर निर्भर हैं।

विधायी, प्रशासनिक, और वित्तीय विषयों में भी संविधान ने केन्द्र को व्यापक अधिकार दिए हैं। यद्यपि तीन सूचियों में विधायी अधिकारों का वितरण किया गया है, लेकिन राज्य सभा दो-तिहाई बहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा राज्य सूची के विषयों पर संसद को राष्ट्र हित में कानून बनाने का अधिकार दिया जा सकता है। राज्य विधायिका से पारित किसी भी विधेयक को राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित कर सकता है। *एक या अधिक राज्यों की विधायिकाओं की सहमति से* संसद राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बना सकती है। आपातकालीन स्थिति में संसद को विशेष विधायी अधिकार होते हैं। *राज्य में सांविधानिक सरकार की विफलता की स्थिति* में जब राष्ट्रपति शासन लागू किया जाता है, तो राज्य पर केंद्र का पूर्ण नियंत्रण होता है। राज्यपाल राज्य सरकार की कार्यकारी सत्ता का प्रतिनिधि है, लेकिन उसकी नियुक्ति केंद्रीय सरकार के हाथ में है। *राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने में राज्यपाल* की मुख्य भूमिका होती है।

संसद के कानून पूरे देश में लागू होते हैं। उन्हें कार्यान्वित करने की ज़िम्मेदारी केंद्र सरकार पर होती है। राज्य सरकारों को इस प्रकार काम करना पड़ता है कि केंद्रीय कानून का अनुसरण हो और केंद्र के कार्यकारी अधिकार के उपयोग में *बाधा न पड़े। राष्ट्रीय महामार्गों के निर्माण और अनुसूचित जातियों* और जनजातियों के कल्याण जैसे विषयों पर केंद्र सरकार राज्यों को निर्देश दे सकती है। अखिल भारतीय सेवा, जिसका निर्माण और नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती है, केंद्र की एक महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक संस्था के रूप में काम करती है। इनमें अधिकतर अधिकारी राज्यों में काम करते हैं, लेकिन उनकी नियुक्ति और सेवा शर्तों पर केंद्र का नियंत्रण होता है।

अधिकारों का यही रूप वित्तीय विषयों में भी देखा जाता है। राजस्व के जो स्रोत संघ सूची में हैं, वे "लचीले" हैं, और राज्य सूची में "कठोर" स्रोत हैं। केंद्र सरकार के पास राजस्व का एक बड़ा भाग होता है, जिसका वितरण वह राज्यों में करता है। ऋण और अनुदान राज्यों के लिये एक मुख्य वित्तीय साधन हो गये हैं, लेकिन इन पर भी केंद्र का पूर्ण अधिकार है। वित्त आयोग, जो साधनों के बंटवारे के सिद्धांत की सिफारिश करता है, उसकी नियुक्ति भी केंद्रीय सरकार द्वारा की जाती है। राज्य की वित्तीय स्थिति पर निगरानी का उत्तरदायित्व भारत के नियंत्रक व महालेखा परीक्षक पर है।

इन संवैधानिक प्रावधानों के अतिरिक्त, केंद्र का महत्त्व पांचवें दशक में आरंभ किए गए परियोजना की प्रक्रिया के फलस्वरूप बढ़ा है। योजना आयोग, जिसका गठन 1950 में किया गया, पूरे देश में विकास के कार्यक्रमों को बनाने के लिए एक केंद्र बिंदु हो गया है। इस आयोग की चर्चा संविधान में नहीं की गई है, फिर भी यह एक अत्यन्त शक्तिशाली केंद्रीय संस्था बन गई है। राज्यों में विकास कार्यक्रमों के लिए वित्तीय साधनों का आवंटन योजना आयोग की सिफारिश पर किया जाता है। विकास के कौन से कार्यक्रम शुरू किये जाएँ, उनका प्रशासन किस प्रकार हो, इनके लिए कितनी धन राशि दी जाये — ऐसे सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय योजना आयोग द्वारा ही लिये जाते हैं। राष्ट्रीय विकास परिषद् जैसी संस्थाएं भी हैं, जिसमें सम्बद्ध केंद्रीय मंत्रियों के अलावा राज्यों के मुख्य मंत्री और केंद्र शासित प्रदेशों के कार्यकारी प्रमुख, सदस्य होते हैं *और जो योजना प्रक्रिया के विषय में परामर्श देते हैं। लेकिन इस विषय में मुख्य पहल योजना आयोग की होती है।*

संविधान में केंद्रीय व्यवस्था का ढांचा दिया गया है। अपने कार्य के सिलसिले में संस्थाओं पर राजनीतिक शक्तियों का प्रभाव होता है। संवैधानिक प्रावधानों को समझने के लिए राजनीतिक प्रक्रिया विशेषतः दलीय राजनीति को समझना आवश्यक है।

अभ्यास

1. राज्य और सरकार में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. राजनीतिक व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? भारतीय राजनीतिक व्यस्था के संदर्भ में इसका वर्णन कीजिए।
3. संविधानवाद का वर्णन कीजिए तथा इसका महत्त्व बताइए।
4. कठोर संविधान किसे कहते हैं? कठोर तथा लचीले संविधान में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) राज्य सरकार से अधिक स्थायी है
   (ख) सामान्य विधि एवं संविधानिक विधि

अध्याय 15

केंद्र-राज्य संबंधों में तनाव का प्रश्न

एक संघीय संविधान में सरकार के दो स्तरों का प्रावधान किया जाता है। इन दो स्तरों, केंद्र और इकाइयों के संबंध संविधान के अंतर्गत वर्णित होते हैं। सांविधानिक प्रावधानों में इनके पारस्परिक संबंधों में संभावित तनावों का ध्यान रखा जाता है। भारतीय संविधान की कुछ संस्थाएं निरंतर तनाव का कारण रही हैं। इन संबंधों की वास्तविक प्रक्रिया में परिवर्तनशील राजनीतिक प्रक्रिया का भी प्रभाव पड़ता है। यह प्रक्रिया आम चुनावों में लक्षित होती है, जिसमें विभिन्न राजनीतिक दल सत्ता के लिये भाग लेते हैं। केंद्र-राज्य संबंधों की यह गतिशील प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया का एक अंग है। 1952 ई. के पहले आम चुनाव से लेकर भारत की दलीय राजनीति में निरंतर परिवर्तन होता रहा है। यह परिवर्तन राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों में अधिक लक्षित होता रहा है। दलीय राजनीति के स्वरूप का विचार भारत में केंद्र-राज्य संबंधों को समझने के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है।

दलीय राजनीति की स्थिति

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात प्रारंभिक दो दशकों में देश में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को व्यापक समर्थन प्राप्त था। केंद्र और राज्यों दोनों में यही दल सत्ता में था। इस अवधि में सिर्फ केरल में, 1957-1959 ई. में गैरकांग्रेसी सरकार बनी। जवाहरलाल नेहरू का नेतृत्व 1964 ई. में उनकी मृत्यु तक, देश में राजनीतिक स्थायित्व के लिये महत्त्वपूर्ण था। केंद्र के अन्य नेताओं में भी स्वतंत्रता आंदोलन के समय के आदर्शों के बारे में उत्साह था। सरकार के विभिन्न स्तरों पर एक ही पार्टी सत्ता में थी, जिससे केंद्र राज्य संबंध निर्विघ्न चलते रहे। केंद्र और राज्यों के बीच संघर्ष की स्थितियों का समाधान पार्टी के अंदर हो जाता था। यह केंद्र और राज्यों के बीच सहयोग की अवधि थी।

1967 ई. के चतुर्थ आम चुनाव में एक राजनीतिक मोड़ आया और कांग्रेस दल की पराजय हुई। उड़ीसा, केरल, पश्चिम बंगाल, पंजाब, बिहार, उत्तर प्रदेश और मद्रास में गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं। केंद्र शासित प्रदेश दिल्ली पर भारतीय जनसंघ का नियंत्रण हो गया। संसद में भी कांग्रेस का बहुमत क्षीण हो गया। यही समय था जब राज्य सरकारों को दलबदल की समस्या का सामना करना पड़ा और कुछ विधायक अपना समर्थन एक दल से दूसरे दल के बीच बदलते रहे। यह एक अस्थायित्व की स्थिति थी। 1969 ई. के मध्यावधि चुनाव में बहुत से राज्यों में कांग्रेस फिर सत्ता में आई। केंद्र में कांग्रेस और राज्यों में गैरकांग्रेसी सरकार होने के कारण, संघीय व्यवस्था में तनाव की स्थिति आ गई। केंद्र राज्य संबंधों के बारे में नए प्रश्न उठाए गए। राज्य सरकारों के अस्थायित्व से इन समस्याओं ने और ज़ोर पकड़ा।

1971 ई. के मध्यावधि आम चुनाव होने तक कांग्रेस का पुनर्गठन हो चुका था। "अनुभवी प्रहरियों" (Old guards) का पार्टी में प्रभाव कम हो गया था। इंदिरा गांधी के नेतृत्व में नई कांग्रेस को चुनाव में भारी बहुमत मिला। लेकिन इस दौर में राजनीति पर व्यक्तिगत प्रभाव बढ़ गया। राज्यों में सरकार के गठन के बारे में अधिकतर निर्णय श्रीमती गांधी ही लेती थीं। कांग्रेस की स्थिति सुदृढ़ हो गई, लेकिन केंद्र-राज्य संबंधों में बदलाव आ चुका था। राज्य केंद्र से अधिक अधिकार

और साधन के लिए मोलतोल (bargain) करने की स्थिति में नहीं थे। 1975 ई. में आपत्कालीन स्थिति की घोषणा कर दी गई। 1976 ई. में तमिलनाड और गुजरात की गैरकांग्रेसी सरकारों को निलंबित कर दिया गया और राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

1977 ई. आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी को संसद में बहुमत नहीं मिला। उत्तरी भारत के राज्यों में भी कांग्रेस की भारी हार हुई। नव संगठित जनता पार्टी ने केंद्र में सरकार बनाई। जून 1977 ई. के राज्यों के चुनाव में भी जनता पार्टी को बहुमत मिला लेकिन यह पार्टी केंद्र या राज्यों में स्थायी सरकार नहीं बना पाई। 1980 ई. में कांग्रेस फिर से केंद्र में सत्ता में आई और 1985 ई. के आम चुनाव में संसद में कांग्रेस के बहुमत में और वृद्धि हुई। लेकिन इस अवधि में ध्यान देने योग्य यह बात है, कि क्षेत्रीय पार्टियों का प्रभाव बढ़ता गया जैसे आंध्रप्रदेश में तेलुगु देशम, तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, पंजाब में अकाली दल, और जम्मू-कश्मीर में नेशनल कानफरेंस। जनता पार्टी, लोकदल और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी जैसे कुछ राष्ट्रीय राजनीति दलों का प्रभाव भी कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रहा। इनमे से कुछ दल राज्यो में सत्ता में आए।

1989 में हुए नवें आम चुनाव में यह स्थिति बदल गई थी। लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला था। राष्ट्रीय मोर्चा ने वामपंथी दलों तथा भारतीय जनता पार्टी के समर्थन से केंद्र तथा कुछ राज्यों में भी सरकार बनायी। कांग्रेस का उदय प्रमुख विरोधी दल के रूप में हुआ था। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को नवंबर 1990 में त्यागपत्र देना पड़ा क्योंकि भारतीय जनता पार्टी ने उसे समर्थन देना बन्द कर दिया था। कुछ समय के लिए केंद्र में कांग्रेस के सहयोग से समाजवादी जनता पार्टी ने सरकार बनाई। मई-जून 1991 में दसवीं लोकसभा के चुनावों के बाद केंद्र तथा कुछ राज्यों में कांग्रेस तथा उसके सहयोगी दलों ने सरकार बनाई हैं। कुछ अन्य राज्यों में अन्य राष्ट्रीय दलों या क्षेत्रीय दलों की सरकारें हैं जिनकी विचारधारा और कार्यक्रम भिन्न हैं।

जटिल स्थिति से केंद्रराज्य संबंधो में नई समस्याएँ सामने बनी हुई है। राज्यों के लए अधिक स्वायत्ता की मांग पहले भी उठाई जाती रही है, लेकिन अब यह प्रश्न अधिक प्रभावशाली ढंग से उठाया जा रहा है। केंद्र और राज्यों के बीच मनमुटाव और तनाव की स्थिति ने और भी नई समस्याओं को जन्म दिया है।

स्वतंत्रता के बाद चार दशकों ने कुछ संस्थाएं केंद्र-राज्य संबंधों में बार-बार विवाद का कारण रही हैं। अब हम तनाव संबंधी इन विषयों की चर्चा करेंगे।

आपातकालीन प्रावधान

संविधान के अनुच्छेद 356 के अंतर्गत केंद्र सरकार राज्य की विधायी एवं प्रशासनिक सत्ता अपने हाथ में ले सकती है। इस प्रावधान का प्रयोग राज्य में सांविधानिक सरकार की विफलता की स्थिति में होता है। राज्य विधायिका में विभिन्न दलों के प्रतिनिधित्व की स्थिति ऐसी हो सकती है कि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले। अगर विभिन्न दल सरकार बनाने के लिए इकट्ठे हो भी जाते हैं तो संभव है कि सरकार स्थायी न रहे। 1967 ई. चौथे आम चुनाव के बाद बहुत से राज्यों को सरकार की अस्थाई स्थिति का सामना करना पड़ा। ऐसी अस्थायित्व की स्थिति में, राज्य में राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर दी जाती है। केंद्र यह कदम, राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर उठाता है, जिसमें राष्ट्रपति शासन की घोषणा की सिफारिश होती है। जुलाई 1959 ई. में पहली बार केरल में ई.एम.एस. नंबुदिरिपाद की सरकार को निलम्बित करके राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था। उसके बाद प्रायः सभी राज्यों को किसी न किसी समय राष्ट्रपति शासन के अंतर्गत रहना पड़ा है। ऐसे राज्यों में जिन दलों की सरकार रही है, उन्होंने केंद्र पर प्रायः पक्षपात का आरोप लगाया है। जब केंद्र और राज्यों में अलग-अलग दल की सरकार होती है, तो ऐसे आरोपों की संख्या अधिक हो जाती है। जैसा हमने ऊपर कहा है, कि 1967 ई. के बाद बहुत से राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें सत्ता में आईं। जब भी केंद्र की कांग्रेस सरकार ने राज्य को गैर-कांग्रेसी सरकार को पदच्युत करके आपातकालीन स्थिति की घोषणा की है, इस प्रावधान को लेकर तनाव की स्थिति आई है। यही स्थिति 1977 ई. में भी आई जब केंद्र की जनता पार्टी की सरकार ने बिहार हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पश्चिम बंगाल और उड़ीसा की विधान सभाओं को भंग कर दिया। राज्य सरकारों ने प्रायः यह कहा है कि "सांविधानिक तंत्र की विफलता" के प्रावधान की व्याख्या केंद्र ने समय-समय पर विभिन्न प्रकार से की है, जिसके आधार पर राष्ट्रपति शासन की घोषणा की जाती है।

राज्यपाल की भूमिका

संविधान के अनुच्छेद 154 (1) के अंतर्गत राज्यों की कार्यकारी सत्ता राज्यपाल को दी गई है। राज्यपाल की नियुक्त प्रधानमंत्री

के परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति करता है। वह केंद्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है। राज्यपाल की नियुक्ति और उसका कार्य दोनों के विषय में केंद्र और राज्यों के बीच तनाव रहा है। राज्य सरकारों ने अक्सर यह आग्रह किया है कि राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में अनेक विवाद हुए हैं और उनमें तीव्रता भी आई है।

संविधान में राज्यपाल के जो व्यापक अधिकार दिए गए हैं उनमें दो के बारे में केंद्र-राज्य संबंधों में विशेष तनाव रहा है। वे हैं — राज्य में "सांविधानिक तंत्र की विफलता" के बारे में राज्यपाल की रिपोर्ट और राज्य विधायिका द्वारा पारित किसी विधेयक को राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के पास विचार के लिए भेजना। यदि राज्यपाल यह अनुभव करता है कि राज्य सरकार संविधान के प्रावधानों के अनुसार संचालित नहीं हो रही है, तो वह राष्ट्रपति के पास राज्य में सांविधानिक तंत्र की विफलता मूलक रिपोर्ट भेज सकता है। इसी रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रपति शासन की घोषणा की जाती है। राज्यपाल जिस आधार पर अपनी रिपोर्ट भेजता है उसका सामान्य कारण दिया जाता है, कोई सुस्पंष्ट आधार नहीं दिया जाता है। राज्यों ने यह शिकायत की है कि राज्यपाल, केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की सहायता के लिये पक्षपातपूर्ण व्यवहार करता है। उनका कहना है कि राज्यपाल केंद्र के प्रतिनिधि के रूप में काम करता है, राज्य के कार्यकारी प्रधान के रूप में नहीं।

राज्यपाल के विधायी अधिकार भी केंद्र और राज्यों के बीच विवाद का विषय रहे हैं। अनुच्छेद 201 के अंतर्गत राज्यपाल विधाधिका द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रख सकता है। ऐसे कुछ विधेयकों की स्पष्ट चर्चा की गई है, जैसे उच्च न्यायालय के अधिकारों और कार्यों पर प्रतिकूल असर डालने वाले विधेयक (अनुच्छेद 200), समवर्ती सूची से संबंधित ऐसे विधेयक जो संसद द्वारा पहले से पारित किसी कानून का अतिक्रमण करते हों (अनुच्छेद 254 (2), और ऐसे विधेयक जिनके द्वारा किसी भूसंपत्ति का अधिग्रहण या किसी राज्य द्वारा लोक हित की दृष्टि से एक सीमित अवधि के लिए किसी संपत्ति का अधिग्रहण का प्रावधान (अनुच्छेद 31 (अ), 31 (ब) 31 (स)। राज्यों की शिकायत है कि राज्यपाल प्राय : इस अधिकार का प्रयोग राज्यों द्वारा विधेयकों के पारित होने की प्रक्रिया में विलंब करने के लिए करता है। ऐसे विधेयक राष्ट्रपति के पास बहुत दिनों तक पड़े रहते हैं। विशेषत : उन राज्यों से जिसमें ऐसी पार्टी की सरकार होती है जो केंद्र में सत्ता में नहीं है। यह शिकायत भी की जाती है कि राज्यपाल के इस अधिकार का प्रयोग ऐसे विधेयकों के लिए भी किया जाता है, जिन्हें राष्ट्रपति के पास भेजने की आवश्यकता ही नहीं है।

विभिन्न स्तरों पर अलग-अलग दलों के सत्ता में होने के कारण, देश की राजनीतिक जटिलता के साथ ही राज्यपाल की भूमिका अधिक विवादास्पद हो गई है।

केंद्रीय कानूनों का कार्यान्वयन

अनुच्छेद 256 और 257 केंद्र को यह अधिकार देते हैं कि वे राज्य सरकार को संसद के कानून के अनुसार काम करने और राज्य के कार्यकारी अधिकारों के उपयोग के बारे में आदेश दें। अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में भी आदेश दिए जा सकते हैं। ऐसे कुछ उदाहरण मिलते हैं जब केंद्रीय आदेश सरकारों ने अस्वीकार कर दिए हैं।

कानून और व्यवस्था की रक्षा और केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल का प्रयोग

कानून और व्यवस्था राज्य सूची का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। लेकिन संघीय दोहरी व्यवस्था में केंद्र सरकार के कुछ कार्यालय और संपत्ति राज्य के भूभाग में स्थित होते हैं। हड़ताल और घेराव जैसी अशांति की स्थिति में केंद्र सरकार ने प्राय : अपने कार्यालयों और संपत्ति की रक्षा के लिए केंद्रीय पुलिस का प्रयोग किया है। सरकारों ने इसे राज्यों के कार्य में हस्तक्षेप माना है और अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की है। बयालिसवें संशोधन (1976) में यह प्रावधान किया गया कि केंद्र सरकार केंद्रीय पुलिस बल का प्रयोग अपनी पहल पर कर सकती है और इसके लिए राज्य सरकार से परामर्श लेना आवश्यक नहीं है। दो वर्ष बाद चवालिसवें संशोधन द्वारा इस प्रावधान को हटा दिया गया।

अखिल भारतीय सेवा

आप पहले पढ़ चुके हैं कि सरकार कुछ अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था करती है। इन सेवाओं के अधिकारियों की नियुक्ति और नियंत्रण केंद्रीय संस्थाओं द्वारा होता है। राज्य के कार्यों में वृद्धि के साथ ही, ऐसी सेवाओं की संख्या भी अधिक हो गई है। ऐसे बहुत से अधिकारी राज्य सरकारों के

अधीन काम करते हैं। जिनके पास महत्त्वपूर्ण काम होते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा, दो ऐसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं जिनके अधिकारियों के कार्य का आम निरीक्षण राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। इससे कभी-कभी असंगत स्थिति का सामना भी करना पड़ता है।

वित्तीय संबंध

केंद्र और राज्यों के बीच वित्तीय साधनों का विभाजन वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर किया जाता है। विकास कार्यक्रमों के लिए साधनों का आवंटन योजना आयोग की सिफारिश के आधार पर होता है। ये दोनों संस्थाएं केंद्रीय हैं, जिसके कारण राज्य सरकारें साधनों के पुनर्वितरण की मांग करती हैं। केंद्रीय ऋण और अनुदान के संदर्भ में भी राज्य सरकारें केंद्र द्वारा पक्षपात की शिकायत करती हैं। बहुत सी राज्य सरकारें केंद्र द्वारा दिए गए ऋण का भुगतान नहीं कर पातीं। इसी प्रकार, राज्य सरकारें अपनी वित्तीय कमियों की पूर्ति के लिए केंद्रीय रिज़र्व बैंक से ओवरड्राफट् भी लेती हैं, जिसकी राशि काफी बड़ी होती है। यह कहा जाता है कि राज्यों के चिरकालिक वित्तीय संकट का कारण केंद्र का पक्षपात पूर्ण व्यवहार ही है। राज्यों द्वारा केंद्र और राज्यों के बीच वित्तीय बंटवारे में सुधार के लिए अनेकों बार सुझाव दिए गए हैं।

योजना की प्रक्रिया और योजना आयोग की भूमिका

"आर्थिक और सामाजिक योजना" संविधान की समवर्ती सूची का विषय है। देश की सामाजिक-आर्थिक योजना का व्यापक उत्तरदायित्व 1950 ई० में स्थापित योजना आयोग को सौंपा गया। विकास कार्यक्रमों की रूपरेखा योजना आयोग द्वारा तैयार की जाती है और वही इन कार्यक्रमों के लिए राज्यों में वित्तीय आवंटन का निर्णय भी लेता है। राज्यों की योजनाओं का स्वरूप बहुत सीमा तक देश की प्राथमिकताओं के आधार पर तैयार किया जाता है। केंद्र और राज्यों में योजना के लक्ष्य और साधनों का बंटवारा, ऐसे विषय हैं जिनको लेकर काफी मतभेद हैं। योजना कार्यक्रमों के लिए राज्यों में वित्तीय आवंटन पर मतभेद रहता है। कई बार योजना आयोग राज्य सरकारों को ऐसे कुछ कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने का आदेश देता है जिनसे योजना के कार्यान्वयन में सहायता मिले।

इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों ने केंद्र के पक्षपात का प्रश्न कुछ अन्य विषयों के बारे में भी उठाया है। राज्य सरकारों ने राज्य की सीमा का पुनर्निर्धारण और नये राज्यों के निर्माण के प्रश्न पर आपत्ति की है। राज्यों में सीमा के बारे में भी विवाद रहा है। राज्यों ने केंद्र द्वारा बनाई गई औद्योगिक नीति के बारे में भी शिकायत की है। नदी-जल के बंटवारे का प्रश्न भी राज्यों में विवाद का विषय रहा है। ऊपर दिए गए केंद्र-राज्य संबंधों की समस्या के कारण राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न भी बार-बार उठाया जाता है।

राज्यों की स्वायत्तता

राज्य सरकारें, विशेषत : 1967 ई० के बाद, अधिक स्वायत्तता की मांग करती रही हैं। राज्य में क्षेत्रीय दलों की सरकारों के सत्ता में आने के बाद इस मांग ने और जोर पकड़ा है। केंद्र-राज्य संबंधों में तनाव के विषयों से, जिनकी चर्चा हमने पहले की है, इस मांग को बल मिला है। इनमें अधिकतर मांगें सांविधानिक परिवर्तन और राजनीतिक सामंजस्य की आवश्यकता पर ज़ोर देती रही हैं, लेकिन कुछ मांगें राष्ट्र के लिए खतरा पैदा करने लगी हैं। कहीं-कहीं तो क्षेत्रीयता राष्ट्र की एकता के लिए चुनौती के रूप में भी उभर कर आई है, जैसे पंजाब।

केंद्र-राज्य संबंधों का क्रमबद्ध पुनरावलोकन उस समय किया जब 1967 ई० में तमिलनाडु में डी.एम.के. सत्ता में आई। संघीय व्यवस्था के पुनरावलोकन के लिए, उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायधीश, पी. वी. राजमन्नार की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की गई। इसके बाद 1973 ई० में पंजाब में अकालीदल ने आनंदपुर साहब प्रस्ताव पेश किया। 1977 ई० में पश्चिम बंगाल की भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (एम) ने एक विस्तृत "केंद्र राज्य संबंधों पर स्मरणपत्र" विज्ञापित किया। इसी तरह 1983 ई० में कर्नाटक की जनता पार्टी की सरकार ने केंद्र राज्य संबंधों पर एक श्वेतपत्र जारी किया। मार्च 1983 ई० में इस प्रश्न पर विचार के लिए आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु और पांडीचेरी के मुख्य मंत्रियों का सम्मेलन बंगलौर में हुआ। इसके बाद 1983 ई० में ही 16 गैर-कांग्रेसी दलों और मुख्य मंत्रियों की व्यापक गोष्ठी श्रीनगर में हुई, जिसमें केंद्र-राज्य संबंधों पर एक 31 सूत्री प्रस्ताव रखा गया। इन दबावों के फलस्वरूप, विशेषत : पंजाब में बिगड़ती

हुई स्थिति के कारण, मार्च 1983 ई० में केंद्रीय सरकार ने केंद्र-राज्य संबंधों के पूरे प्रश्न के पुनरावलोकन के लिए न्यायमूर्ति रंजीत सिंह सरकारिया की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की।

सरकारिया आयोग (1988) ने एक सशक्त केंद्रीय सरकार की आवश्यकता को दोहराया है। लेकिन इसने निर्विघ्न केंद्र-राज्य सम्बन्धों के लिए भी सुझाव दिए हैं। इसने केंद्र और राज्यों के बीच पारस्परिक विचार विमर्श की संस्थाओं (जैसे, अंतः सरकारी कांउसिल, राष्ट्रीय विकास परिषद, क्षेत्रीय काउंसिल और योजना आयोग) को पुनर्जीवित करने पर बल दिया है। साथ ही कुछ विशेष विषयों पर, जैसे समवर्ती सूची, राज्यपाल की नियुक्ति, राज्यों में सशस्त्र बल का प्रयोग, राज्यों के साथ निरंतर विचारविमर्श, आदि का सुझाव भी दिया है। धारा 356 के प्रयोग में भी सावधानी बरतने का सुझाव दिया गया है। आयोग ने राज्यों की वित्तीय आवश्यकताओं पर भी ध्यान दिया है। इस तरह सरकारिया आयोग ने केंद्र-राज्य संबंधों में तनाव के मुख्य विषयों और संघर्षों पर ध्यान आकर्षित करते हुए उनके समाधान संबंधी सुझाव दिए हैं।

कुछ करने को

भारत का राजनीतिक मानचित्र लीजिए। मानचित्र में यह दर्शाइए कि भारत के विभिन्न राज्यों में कौन से दलों की सरकार हैं।

अभ्यास

1. केन्द्र-राज्य सम्बंधों के संदर्भ में भारतीय संविधान के कौन से प्रावधान विवादास्पद हैं?
2. दलीय राजनीति के विभिन्न चरणों की व्याख्या कीजिए तथा केन्द्र-राज्य सम्बंधों पर इसके प्रभावों की व्याख्या कीजिए।
3. राज्यों के लिए स्वायत्ता की मांग पर विचार कीजिए।
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) योजना आयोग एवं केन्द्र-राज्य सम्बंध
   (ख) सरकारिया आयोग

अध्याय 16

भारतीय संविधान में आपात्कालीन प्रावधान

भारतीय राष्ट्रपति के आपात्कालीन अधिकारों का प्रावधान महत्त्वपूर्ण और साथ ही विवादास्पद रहा है। संविधान सभा में इस प्रावधान के समालोचक और समर्थक दोनों थे। फलस्वरूप इस प्रावधान में बहुत से संशोधन किए गए। लेकिन संविधान निर्माण के समय देश में अस्तव्यस्त स्थिति के कारण ही इस प्रावधान को संविधान में रखा गया। देश के विभाजन के समय अभूतपूर्व सांप्रदायिक दंगे हुए। आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में राजनीतिक उथलपुथल की समस्या थी। इसी बीच नए पड़ोसी देश पाकिस्तान ने जम्मू-काश्मीर क्षेत्र पर हमला कर दिया। इन आंतरिक कारणों के अलावा शक्ति गुटों के बीच बढ़ते हुए शीत युद्ध की स्थिति से अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी तनाव की स्थिति थी। इन समस्याओं की चर्चा हमने अध्याय 14 में की है। संविधान निर्माता इन समसामयिक समस्याओं और देश की प्रत्यक्ष विविधताओं के प्रति पूर्ण सजग थे और इसी कारण उन्होंने संघीय और एकात्मक दोनों व्यवस्थाओं की अच्छाइयों का सम्मिश्रण करना चाहा। नवंबर 4, 1948 को संविधान सभा में डा॰ बी॰ आर॰ अंबेडकर ने कहा, ' इसका (संविधान का) निर्माण इस प्रकार किया गया है कि सामान्य स्थिति में यह एक संघीय व्यवस्था की तरह काम करेगा। लेकिन युद्ध की स्थिति में इसका रूप एकात्मक हो जाएगा।" अंतत: संविधान सभा ने संविधान में भाग 18 के 9 अनुच्छेदों में राष्ट्रपति के आपात्कालीन अधिकारों का प्रावधान किया।

राष्ट्रपति निम्नलिखित तीन स्थितियों में आपात्काल की घोषणा कर सकता है :

(अ) युद्ध, बाह्य अथवा आंतरिक अशांति (अनुच्छेद 352)

(ब) राज्यों मे सांविधानिक तंत्र की विफलता (अनुच्छेद 356)

(स) भारत या उसके किसी भाग में आर्थिक स्थायित्व अथवा साख (Financial stability or credit) को खतरा (अनुच्छेद 360)

युद्ध, बाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह के कारण आपातकालीन स्थिति

जब भी राष्ट्रपति को यह आभास हो कि देश युद्ध या किसी बाहरी आक्रमण की स्थिति में है, तो वह अनुच्छेद 352 के अंतर्गत आपात्काल की घोषणा कर सकता है। ऐसी घोषणा 1962 ई॰ में चीन के साथ युद्ध के समय की गई, जिसकी अवधि 1968 ई॰ तक रही। दूसरी बार आपात्काल की घोषणा 1971 ई॰ में की गई जब पाकिस्तान से टकराव हुआ।

इस अनुच्छेद का दूसरा भाग जिसमें 'आंतरिक अशांति' की चर्चा की गई है, अधिक विवाद का विषय रहा है। प्रारंभ में यह प्रावधान था कि आपातकालीन स्थिति की घोषणा उस समय की जाएगी जब आंतरिक अशांति से देश की सुरक्षा को खतरा होगा। श्रीमती इंदिरा गांधी ने 1975 ई॰ में इसी अनुच्छेद के अंतर्गत आपात्काल की घोषणा की थी। इस आपात्काल के दो वर्ष बहुत विवादास्पद साबित हुए। 1977 ई॰ में पहली बार केंद्र में गैरकांग्रेसी जनता पार्टी की सरकार बनी और इसने 1978 ई॰ में संविधान में चवालीसवां संशोधन किया। इस संशोधन में आंतरिक अशांति के बदले 'सशस्त्र विद्रोह' शब्द का प्रयोग किया गया। इसके पक्ष में यह कहा गया कि 'सशस्त्र विद्रोह' अधिक सुस्पष्ट शब्द है और इससे आपात्कालीन

अधिकारों के दुरूपयोग की संभावना कम हो जाएगी। 1988 ई० में पारित उनसठवें संशोधन के द्वारा 'सशस्त्र विद्रोह' वाक्यांश के साथ एक अन्य वाक्यांश 'आंतरिक अशांति' जिससे भारत की अखंडता को खतरा हो', यह भी जोड़ दिया गया इसके आधार पर आपातकाल की घोषणा की जा सकती थी। उनसठवें संशोधन के साथ संलग्न वक्तव्य में सरकार ने यह साफ कहा था कि इस वाक्यांश को 'पंजाब में अशांति की स्थिति बराबर बने रहने और आतंकवादियों और राष्ट्रविरोधी तत्वों की बढ़ती हुई गतिविधियों को ध्यान में रखते हुए जोड़ा गया है।' यह विवादास्पद उनसठवां संशोधन अब संमाप्त कर दिया गया है।

राष्ट्रपति इन आशंकाओं के पूर्वानुमान के आधार पर भी आपात्काल की घोषणा के अधिकार का प्रयोग कर सकता है। चवालीसवें संशोधन में यह प्रावधान किया गया कि राष्ट्रपति *आपात्काल की घोषणा मंत्रिमंडल के लिखित परामर्श* के आधार पर करेगा। आपात्काल को पूरे देश में, या विशेषत: प्रभावित भाग में, लागू किया जा सकता है। आपात्कालीन घोषणा के एक महीने के अंदर संसद द्वारा उनका अनुमोदन आवश्यक है।

आपात्कालीन स्थिति का प्रभाव मूल अधिकार और केंद्र-राज्य संबंधों पर पड़ता है। मूल अधिकारों के अनुच्छेद 19 का, जिसमें 6 स्वतंत्रताओं के अधिकार का प्रावधान किया गया है, क्षेत्र सीमित हो जाता है। संविधान के भाग तीन के मूल अधिकारों के कार्यान्वियन के लिए न्यायालय में जाने के नागरिकों के अधिकार को भी राष्ट्रपति निलंबित कर सकता है। चवालिसवें संशोधन के द्वारा इस अधिकार में एक अपवाद लगाया गया कि इस का प्रयोग अनुच्छेद 20 और 21 के लिए नहीं किया जा सकता, जिसमें जीवन और स्वतंत्रता की रक्षा को सुनिश्चित किया गया है। आपात्कालीन स्थिति में संसद को राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार मिल जाता है। राज्यों के वित्तीय अधिकार भी कम हो जाते हैं। आपात्कालीन स्थिति में लोकसभा और राज्य विधान सभाओं की अवधि समान्य पांच वर्षों से आगे बढ़ाई जा सकती है।

राज्यों में सांविधानिक तंत्र की विफलता के कारण आपात्कालीन स्थिति

राष्ट्रपति की राय में यदि किसी राज्य की सरकार संविधान के प्रावधानों के अनुसार संचालित नहीं हो रही है, तो वह अनुच्छेद 356 के अंतर्गत संविधानिक आपात्काल की घोषणा कर सकता है। राज्य में 'सांविधानिक तंत्र की विफलता' का अर्थ यही है। राज्य का कार्यकारी मुख्य की हैसियत से, राज्यपाल सांविधानिक तंत्र की विफलता के बारे में अपनी रिपोर्ट भेजता है, जिसके आधार पर आपात्काल की घोषणा की जाती है। राष्ट्रपति अपने अनुमान के आधार पर भी इस अधिकार का प्रयोग कर सकता है। सामान्यतः आपात्काल की घोषणा के दो महीने के अंदर संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग अनुमोदन आवश्यक है। इस अनुमोदन से आपात्काल 6 महीने तक लागू रह सकता है। इसकी अवधि 6 महीने और बढ़ाई जा सकती है। इस तरह अनुच्छेद 356 के अंतर्गत घोषित आपात्काल की अवधि एक वर्ष तक हो सकती है।

आपात्काल की घोषणा के बाद राष्ट्रपति राज्य सरकार के सभी अधिकार अपने हाथ में ले सकता है। लेकिन उच्च न्यायालय के अधिकार इस तरह नहीं लिए जा सकते। राज्य विधायिका के कार्य संसद द्वारा संपादित किए जाते हैं। जब संसद का सत्र नहीं चल रहा हो तो राज्य की संचित निधि से व्यय करने की अनुमति राष्ट्रपति द्वारा दी जाती है। ऊपर यह कहा गया है कि अनुच्छेद 356 के अंतर्गत आपात्काल की घोषणा करीब-करीब सभी राज्यों में कभी-न-कभी की गई है। अधिकाधिक राज्यों में राजनीतिक अस्थायित्व के साथ ही इस आपात्काल की घोषणा जल्दी-जल्दी होने लगी है। हमने अध्याय 15 में देखा कि 1967 ई० के बाद बहुत से राज्यों को अस्थायित्व की समस्या का सामना करना पड़ा। बहुत से राज्यों में क्षेत्रीय दल सत्ता में आए। केंद्र और राज्यों में विभिन्न राजनीतिक दल सत्ता में रहे हैं। इसी कारण 1950 ई० और 1964 ई० के बीच आपात्काल की घोषणा सिर्फ आठ बार की गई, लेकिन 1965 ई० और 1987 ई० की अवधि में 67 बार राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। यह आरोप लगाया जाता है कि केंद्रीय सरकार ने अनुच्छेद 356 का प्रयोग अक्सर उस दल के हित को सामने रख कर किया है जिसकी सत्ता केंद्र में है। यह कहा जाता है कि आपात्काल की घोषणा की परिस्थिति का निर्णय केंद्र ने विभिन्न अवसरों पर अलग-अलग तरीके से किया है। हमने पहले पढ़ा है कि राज्य की स्वायत्तता की माँग करते समय केंद्र-राज्य संबंधों के पुनर्परीक्षण के सभी प्रस्तावों में अनुच्छेद 356 को उत्तेजक बताया गया है। तमिलनाडु

की राजमन्नार समिति ने इस अनुच्छेद को समाप्त कर देने की सिफारिश की थी। पश्चिम बंगाल सरकार के 1977 ई० के केंद्र-राज्य संबंधों पर स्मरण' पत्र' में राष्ट्रपति के इस अधिकार को समाप्त करने का सुझाव दिया गया था। इस प्रावधान की ओर सरकारिया आयोग ने भी ध्यान दिया है। इस आयोग ने सुझाव दिया कि इस प्रावधान का प्रयोग बहुत सावधानी से और अंतिम स्थिति में होना चाहिए। राष्ट्रपति शासन लागू करने से पहले संबंधित राज्य को उचित चेतावनी देनी चाहिए, जिसमें इसका स्पष्ट उल्लेख हो कि राज्य पर वह आरोप क्यों लगाया जा रहा है कि वह संविधान के प्रावधानों के अनुसार सरकार का संचालन नहीं कर रहा है। आयोग ने इस प्रावधान के दुरुपयोग को रोकने के लिए कुछ संविधानिक संशोधनों का सुझाव दिया है।

वित्तीय आपात्काल

अनुच्छेद 360 के अंतर्गत राष्ट्रपति भारत या उसके किसी भाग में आर्थिक स्थायित्व अथवा साख (Financial stability and credit) को खतरे के आधार पर वित्तीय आपात्काल की घोषणा कर सकता है। इस स्थिति में राष्ट्रपति को राज्यों के पास वित्तीय मामलों के बारे में आदेश भेजने का अधिकार होता है। वह राज्य और केंद्र सरकारों से संबंधित अधिकारियों के वेतन को कम करने का आदेश भी दे सकता है। उच्च और सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन भी इन प्रावधान के बाहर नहीं हैं। राष्ट्रपति यह आदेश भी दे सकता है कि राज्य विधायिका द्वारा पारित धन विधेयक उसके विचार के लिए भेजा जाए। संविधान सभा में डा० अंबेडकर ने व्याख्या की कि इस प्रावधान द्वारा केंद्रीय सरकार को 'वित्तीय और आर्थिक' अभाव से निबटने के लिए पर्याप्त अधिकार दे दिए गए हैं। अन्य दो आपात्कालीन प्रावधानों के विपरीत, देश में वित्तीय आपत्काल की घोषणा कभी नहीं की गई है।

आपातकालीन घोषणा को कई कारणों से उपयोगी माना जा सकता है। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि इस प्रावधान ने राष्ट्रपति को व्यापक अधिकार दे दिए हैं। हमने पहले देखा है कि संसदीय व्यवस्था में राष्ट्रपति का पद एक संविधानिक अध्यक्ष के रूप में है। राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के परामर्श से बाध्य होता है। वास्तविक कार्य की दृष्टि से प्रधान मंत्री की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। प्रधान मंत्री और मंत्रिपरिषद संसद में बहुमत प्राप्त दल का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए अकसर यह आरोप लगाया जाता है कि राष्ट्रपति को मंत्रिमंडल द्वारा दिया गया परामर्श दल के हित को ध्यान में रखकर ही दिया जाता है। बढ़ती हुई राजनीतिक जटिलता के साथ ही राष्ट्रपति का आपात्कालीन अधिकार केंद्र-राज्य संबंधों के संदर्भ में एक विवादास्पद विषय हो गया है।

कुछ करने को

ऐसे राज्यों की सूची बनाइए, जो राष्ट्रपति शासन के अंतर्गत रहे हों। राष्ट्रपति-शासन की घोषणा का तारीख़े भी बताइए।

अभ्यास

1. भारतीय संविधान में वर्णित आपातकालीन स्थितियाँ कौन सी हैं? विवेचना कीजिये।
2. आपातकालीन घोषणा का केन्द्र और राज्यों के प्रशासनिक और वित्तीय सम्बन्धों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

कठिन शब्द

अलीगढ़ आन्दोलन (Aligarh Movement) सर सैयद अहमद ख़ाँ द्वारा शुरू किया गया समाज सुधार और सांस्कृतिक आन्दोलन। इसने पश्चिमी शिक्षा के महत्व और मुस्लिम समाज में समाज सुधार की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। इस आन्दोलन के नेताओं ने 1890 में अलीगढ़ युनिवर्सिटी की स्थापना की।

अहमदिया आन्दोलन (Ahmadiya Movement) : 1889 में मिर्जा गुलाम अहमद द्वारा शुरू किया गया आन्दोलन। इसमें सभी धर्म के अनुयायियों के बन्धुत्व पर ज़ोर दिया गया। इसने मुसलमानों में पश्चिमी शिक्षा का प्रसार किया।

अहस्तक्षेप(Laissez-faire) : इसका अर्थ है व्यक्ति की आर्थिक गतिविधियों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप न किया जाना

उपक्रमण (Initiative) : प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक साधन जिसके द्वारा मतदाता अर्ज़ी द्वारा किसी कानून या संविधान में संशोधन का प्रस्ताव कर सकते हैं। इसका प्रयोग स्विट्ज़रलैंड में और अमरीका के कुछ राज्यों के स्थानीय सरकारों में होता है।

चिपको आन्दोलन (Chipko Movement) : हिमालय के पहाड़ों के बचाव और पेड़ों को कटने से रोकने के लिये आन्दोलन। यह उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाकों में शुरू हुआ। पारिस्थितिकीय संतुलन बनाये रखने के पक्ष में यह एक प्रसिद्ध आन्दोलन है।

जन उत्तेजक (Demagogues) : इसका अर्थ उन राजनीतिक नेताओं से है जो जनहित के स्थान पर सत्ता को महत्व देते हैं। ऐसे नेता लोगों की भावनाओं को उभार कर अपने लिये समर्थन प्राप्त करते हैं।

जनमत संग्रह (Referendum) : प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक साधन जिसके द्वारा मतदाता नेताओं द्वारा रखे गये प्रस्ताव के प्रति स्वीकृति या अस्वीकृत व्यक्त करते है।

नौकरशाही (Bureaucracy) : "दफ्तर" या "अफसरों" द्वारा शासन। इसका अर्थ सरकारी अफसर वर्ग है।

प्रदत्त विधान (Delegated Legislation) : कार्यपालिका द्वारा विधिनिर्माण (कानून बनाने) का कार्य, जिसका अधिकार विधायिका द्वारा दिया गया हो।

पूना समझौता (Poona Pact) : साम्प्रदायिक अधिनिर्णय के अन्तर्गत दलित वर्गों के लिए की गयी पृथक् प्रतिनिधित्व की व्यवस्था का गाँधी जी ने विरोध किया। इसके विरोध में उन्होंने 20 सितम्बर, 1932 को अनशन शुरू कर दिया। इसलिए पूना में एक बैठक बुलायी गई जिसमें पंडित मदन मोहन मालवीय, राजगोपालाचारी, डॉ राजेन्द्रप्रसाद और डॉ अम्बेडकर जैसे नेताओं ने भाग लिया। इस बैठक में नेताओं के बीच जो समझौता हुआ उसे पूना समझौता कहते है। डॉ अम्बेडकर के नेतृत्व में दलित वर्ग ने इस समझौते के द्वारा पृथक् प्रतिनिधित्व की अपनी माँग व अधिकार को वापस ले लिया। यह सबने मान लिया कि हिन्दू और अनुसूचित जातियों का संयुक्त प्रतिनिधित्व होगा।

बहुतंत्र (Polyarchy) : यह संकल्पना राबर्ट डाल की कृतियों से जुड़ी है। इसका अर्थ ऐसे समाज से है जिसमें प्रतियोगी हित समूह हों और राज्य का कार्य उनके बीच ताल-मेल बैठाना हो।

मजदूर संघ (Trade-Union) : श्रमिकों का संघ जिसका मुख्य उद्देश्य उनकी दशा में सुधार करना और उनके हितों की रक्षा करना हो।

मूल्यों का आधिकारिक विनियोजन (Authoritative Allocation): राजनीति की डेविड ईस्टन द्वारा दी गई परिभाषा। इसका अर्थ सरकार द्वारा लिये गये निर्णयों से है, जिसके द्वारा समाज में संसाधनों का वितरण इस प्रकार हो कि वह लोगों को सामान्यतः मान्य हो।

युटोपिया (Utopia): इसका सम्बन्ध आदर्श राज्य या ऐसी स्थिति से है जिसमें किसी भी प्रकार की कमी न हो। इसका अर्थ है ऐसी आदर्श व्यवस्था जिसकी प्राप्ति आसान नहीं है। 1516 में टामस मोर ने इस नाम के एक कल्पित टापू का वर्णन किया और उसके बाद ही यह शब्द व्यवहार में आया।

विधि का शासन (Rule of Law): इसका अर्थ है स्वेच्छाचारी निर्णयों के बदले कानून की प्रधानता। यह लोकतंत्र का पर्याय सा हो गया है।

विशिष्ट वर्ग (Elite): इसका अर्थ है व्यक्तियों का वह समूह जो समाज में विशिष्ट स्थान रखता है। इस शब्द का प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों के नेताओं के लिये भी किया जाता है, जैसे राजनीतिक विशिष्टवर्ग।

वैधता (Legitimacy): इसका अर्थ है राजनीतिक व्यवस्था की लोगों द्वारा सामान्य मान्यता, जिसमें संस्थाओं और शासकों के प्राधिकार को उचित माना जाता है।

व्यक्तिवाद (Individualism): इसके अनुसार स्वतंत्रता के लिये सम्पत्ति का अधिकार आवश्यक है। व्यक्तिवाद सरकार के सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं को नियमित करने के अधिकार को सीमित करता है।इस सिधान्त की धारणा है कि व्यक्ति स्वयं में एक साध्य है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं की प्राप्ति के लिये अधिकार मिलना चाहिए।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण (Behavioural Approach): यह दृष्टिकोण बीसवीं सदी के पाँचवां दशक में शुरू हुआ। राजनीति विज्ञान के विश्लेषण में व्यक्ति के व्यवहार को यह दृष्टिकोण अधिक महत्व देता है। राजनीतिक विश्लेषण में, वैज्ञानिक पद्धति से यह दृष्टिकोण जुड़ा हुआ है।

सर्वहारा वर्ग (Proletariat): गरीब श्रमिक वर्ग जो अपने निर्वाह के लिये अपने श्रम का विक्रय करते हैं। इनके पास पूँजी नहीं होती।

समष्टिवाद (Collectivism): आपसी फायदे और कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित राजनीतिक सिद्धान्त जिसमें उत्पादन की प्रक्रिया और वितरण पर समुदाय का सामूहिक स्वामित्व हो।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व (Communal Representation): विभिन्न सम्प्रदायों के लिये अलग-अलग निर्वाचक वर्गों और उनके प्रतिनिधियों की व्यवस्था। 1909 के मार्ले-मिन्टो सुधारों द्वारा मुसलमानों को इस तरह का प्रतिनिधित्व दिया गया। बाद में सिक्ख, दलित वर्गों और अन्य अल्पमत समूहों के लिये भी यह व्यवस्था की गई। भारत सरकार अधिनियम, 1935 के द्वारा कई सम्प्रदायों के लिये इस प्रकार का प्रतिनिधित्व दिया गया। इन प्रावधानों से भारत में साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिला।

साम्प्रदायिक अधिनिर्णय (Communal Award): द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की विफलता के पश्चात् ब्रिटेन की सरकार ने 16 अगस्त, 1932 को साम्प्रदायिक अधिनिर्णय की घोषणा की। इस घोषणा के द्वारा प्रान्तीय विधायिकाओं में मुसलमान, सिख, भारतीय ईसाई और एंग्ल-भारतीय समुदायों के लिए प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। महिलाओं को भी प्रतिनिधित्व दिया गया। इसी तरह दलित वर्गों को भी कुछ क्षेत्रों में पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया। इस घोषणा ने विभिन्न वर्गों के बीच साम्प्रदायिकता की भावना को जन्म दिया।

संविधान वाद (Constitutionalism): इसका अर्थ है स्वतंत्र प्रतिनिधि संविधान सभा द्वारा निर्मित लिखित संविधान की प्रधानता। इसका अर्थ यह भी है कि सरकार की सत्ता पर प्रभावकारी नियंत्रण हो। कानून का शासन हो जिससे लोगों को अधिकार और स्वतंत्रता प्राप्त हो सकें। आधुनिक लोकतांत्रित कल्याणकारी राज्य इन मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित हैं।

प्रश्नावली

(अ) पुस्तक के विषय में आप अपनी टिप्पणी और मत नीचे दी हुई प्रश्नावली में देने की कृपा करें। पुस्तक से ये पन्ने अलग कर लीजिए और नीचे दिए हुए पते पर भेज दीजिए : विभागाध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110 016

(ब) प्रश्नों का उत्तर देते समय यदि जगह अपर्याप्त लगे तो कृपया अतिरिक्त पन्ने पर भी उत्तर लिख सकते हैं।

(स) प्रश्नावली अध्यापक और छात्र दोनों के लिए है। तारांकित प्रश्न केवल अध्यापकों के लिए हैं।

1. अध्यापक/छात्र
   (क) नाम
   (ख) विद्यालय का नाम और पता

2. पाठ्य पुस्तक
   (क) पाठ्यपुस्तक का नाम
   (ख) कक्षा
   (ग) पुस्तक की भाषा

1. (अ) क्या पुस्तक की साज सज्जा एवं छपाई आकर्षक है? हां-नहीं
   (ब) क्या पुस्तक का मूल्य उचित है? हां/नहीं
2. क्या आप पुस्तक को आसानी से समझ सकते हैं? हां/नहीं
3. जो शब्द समझने में कठिन हैं उन्हें नीचे लिखिए।

(1) (2) (3) (4)

(5) (6) (7) (8)

(9) (10) (11) (12)

4. उन अध्यायों का नाम तथा पृष्ठ संख्या बताइये जिनकी भाषा समझने में कठिन है।

अध्याय संख्या	पृष्ठ संख्या	पंक्ति
____________	____________	____________
____________	____________	____________
____________	____________	____________

5. क्या आप समझते हैं कि इस पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु राजनीति विज्ञान के पाठ्यक्रम के अनुरूप है? हां/नहीं

6. (1) कृपया पुस्तक के उन अंशो को इंगित कीजिए, जिनमें लैंगिक, जातीय, वर्गीय, सामुदायिक, प्रादेशिक और सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह प्रतिबिम्बित होते हैं।

पूर्वाग्रह	पृष्ठ संख्या	पंक्ति
____________	____________	____________
____________	____________	____________
____________	____________	____________

(2) इस पाठ्यपुस्तक की विषय वस्तु के वे अंश बताइए जो अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द की भावना के विरुद्ध हों।

____________ ____________ ____________

____________ ____________ ____________

7. (1) उन अध्यायों का उल्लेख कीजिए जो आपकी राय में विषयवस्तु से अधिक बड़े हैं।

____

____

(2) उन अध्यायों का उल्लेख कीजिए जो आपकी राय में विषयवस्तु की दृष्टि से अपर्याप्त हैं।

____

____

8. क्या पाठ्यपुस्तक के अध्यायों में दिए गए चित्र विषय वस्तु को समझने में सहायक हैं? हां/नहीं

9. उन चित्रों का उल्लेख कीजिए जो पाठ्य सामग्री को समझने में सहायक नहीं हैं।

पृष्ठ संख्या	चित्र संख्या	शीर्षक
____________	____________	____________
____________	____________	____________
____________	____________	____________

10 कुछ अध्यायों के अन्त में कुछ करने के लिए क्रियाएं सुझाई गई हैं। आपने अपनी कक्षा में इनमें से कितनी क्रियाएं आयोजित की हैं? बताइए?

____

____

(1) इन क्रियाओं को करते समय आपको किन किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा?

____

____

(2) क्रियाओं को आयोजित करने के लिए कुछ निर्देश दिए गए हैं। इनमें से किन क्रियाओं के लिए दिए गए निर्देश अपर्याप्त हैं।

----

11. प्रत्येक अध्याय में चौखटे के भीतर कुछ प्रश्न पूछे गए हैं।
    (1) क्या आप इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढने की कोशिश करते हैं? हां/नहीं
    (2) क्या वे पुस्तक की विषय वस्तु को समझने में सहायक हैं? हां/नहीं
    (3) क्या आपको ये प्रश्न रोचक लगते हैं? हां/नहीं

12. (1) क्या आपको पुस्तक में दिए गए अभ्यास के प्रश्न रोचक लगते हैं? हां/नहीं
    (2) अभ्यास के उन प्रश्नों को इंगित कीजिए जिन्हें आपकी राय में बदला जाना चाहिए।

पृष्ठ संख्या	अभ्यास के प्रश्न की संख्या
----------------------	----------------------
----------------------	----------------------

13. पुस्तक के अंत में 'कठिन शब्द' दिए गए हैं। इन शब्दों को बताइए जिन्हें ठीक तरह से नहीं समझाया गया है।

----

14. वे शब्द भी बताइए जिन्हें कठिन शब्दों की सूची में जोड़ा जाना चाहिए।

----

15. पुस्तक में यदि मुद्रण की कोई गलती है, तो उसे बताइए।

पृष्ठ संख्या	गलती
----------------------	----------------------
----------------------	----------------------
----------------------	----------------------

16. पुस्तक के पूर्ण मूल्यांकन की दृष्टि से, कृपया बताइए
    (1) पुस्तक की अच्छाइयां

----

    (2) पुस्तक की कमियां